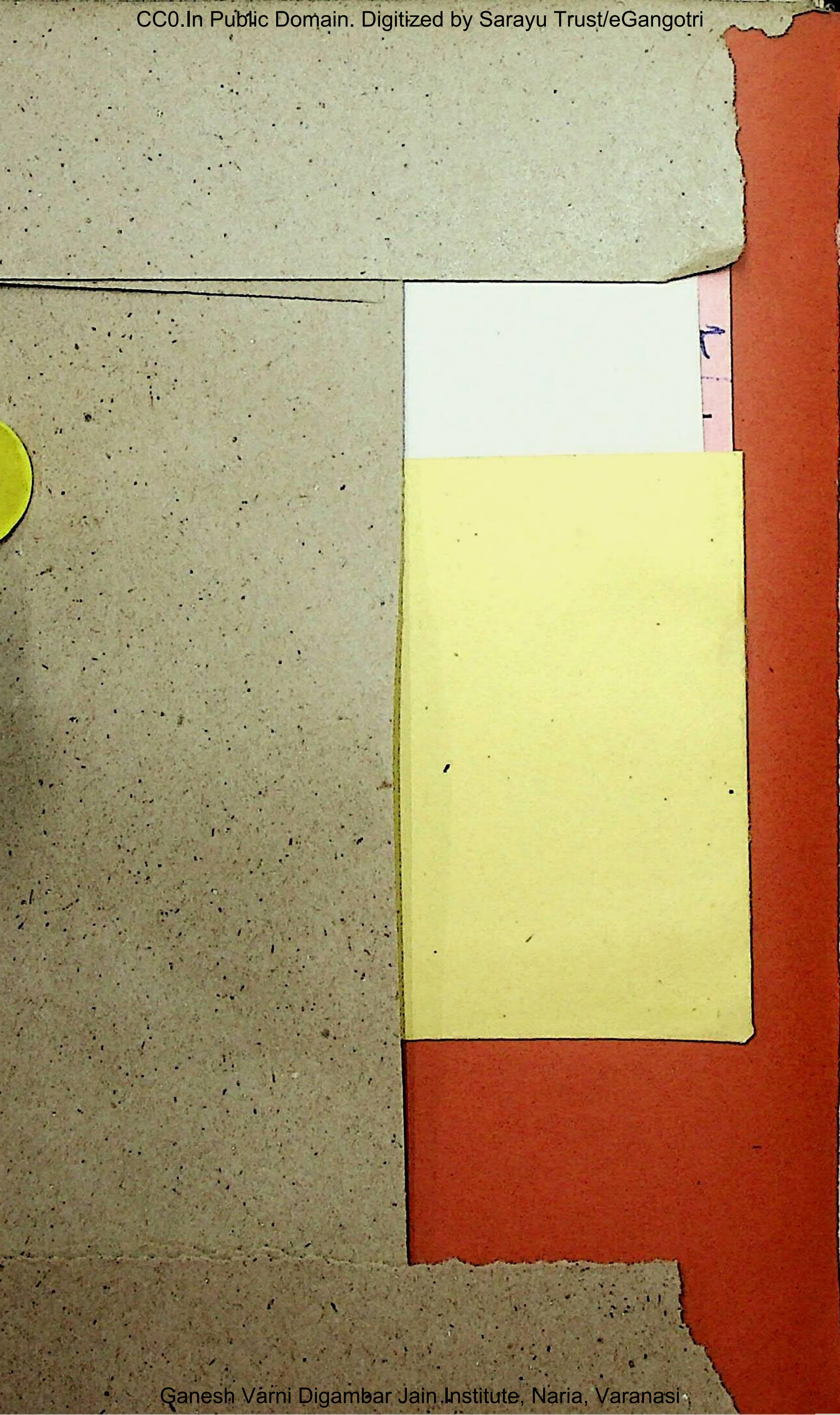
दशवैकालिक
उत्तराध्ययन



अशुद्धी--पत्र

दशवैकालिक

उत्तराध्ययन

पृष्ठ	अध्ययन	पद्य	अशुद्ध	शुद्ध
0	मंगलाचरण	2	सदव	सदैव
2	2	5	निजको तपा	निजको तपा व
6	4	19	और चतुरिन्द्रिया	और सब चतुरिन्द्रिया
7	4	32	झट	झूठ
19	5	55	पूर्तिकर्म	पूतिकर्म
28	6	18	संग्रहेच्छक	संग्रहेच्छुक
30	6	51	देखता	देखा
31	6	61	पाली	पोली
	6	63	आदि हो	आदि ही
34	7	29	बोल	बोले
35	7	36	जमीन	जीमन
	7	37	जमीनवार को जमीन	जामनवार को जोमन
36	7	50	नहो	नहीं
37	8	4	भींत भ	भींत भू
38	8	18	श्लेष्मा	श्लेष्म
39	8	29	अचपल न	अचपल व
40	8	38	क्राध	क्रोध
	8	39	क्राध	क्रोध
41	8	49	स्खलिता	स्खलित
44	9-1	12	का या	काया
	9-1	15	पर्णिमा	पूर्णिमा
46	9-2	( )	बठा	बैठा
51	10	2	भ	भू
	10	5	ज्ञातपुत्र का	ज्ञातपुत्र-बच
	10	8	संप्राप्त	संप्राप्त सही
54	चूलिका-1	2	ह्य	हय
	चू-1	8	है गृही	गृही
213	प्रशस्ति	3	जीव	जीत



उत्तराध्ययन

पृष्ठ	अध्ययन	पद्य	अशुद्ध	शुद्ध
63	1	28, 34	कट, नीचे	कटु, नीचे से
64	1	44	बिनती	बिनयी
65	2	6	भिक्ष	भिक्षु
67	2	34	सोचे, क	सोचे करे
68	2	41	दान, लान	दीन, लीन
69	2	54	झठ	झूठ
71	3	19	भोगों का	भोगों को
74	5	1	यतिमान	मतिमान
75	5	20	एक, अवश्य……प्र	एक एक, अवश्य प्राप्त
76	5	27	दीर्घायु व समृद्ध	दीर्घायु: समृद्ध व
77	6	7	पात्र दन्त	पात्रदत्त
78	6	16	अप्रमत्त रहे	अप्रमत हो रहे
79	7	4	नर आयुष्य, कर संचय	नरकाऽऽयुष्य, संचितकर
80	7	13	दुर्मते है, द्विविधि	दुर्मति है, द्विविध
81	8	8	तीर्थंकरों	तीर्थंकरों
82	8	18	अनेक चिन्ता	अनेक चिता
83	9	1	उपशान्त	वह उपशान्त
84	9	18, 21	बनाकर, ईर्ष्या	बनवाकर, ईर्या
86	9	46, 51	वसन कांस्य, अभ्यदय	वसन व कांस्य, अभ्युदय
91	11	1	भिक्ष	भिक्षु
92	11	25, 26	मी, होता त्यों	भी, होता है त्यों
94	12	5	व बाल	वे बाल
95	12	19	बेत	बेंत
96	12	31, 36	होते हैं, दुन्दुभि	होते, दुन्दुभी
98	13	12	है यत्न से	प्रयत्न से
99	13	13, 19, 22	घर का, विकल, माता पिता	घरका, विफल, मातपिता
102	14	13	दुख, सुख	दुख, प्रकाम दुख सुख
103	14	34, 40	सर्प केचुली, त्राण भत	सर्प केचुंलो, त्राण भूत
104	14	42	सपेख	संपेख

पृष्ठ	अध्ययन	पद्य	अशुद्ध	शुद्ध
107	16	8	युक्त	युत
110	16	44	नारि के	नारी के
111	16	56	प्रणामन	प्रणमन
113	17	12	असदाचारी	अ सदाचारी
121	19	50, 52	बालू में, अनन्त अति दुष्कर	बालू में कि अनन्त, दुष्कर
122	19	64	बेजान	बे भान
125	19	96	इस भांति	इसी भांति
130	20	59	प्रदक्षिण	प्रदक्षिणा
133	22	4, 9	शिवा नामक,सर्वोषधि	शिवा नाम की, सर्वौषधि,
135	22	36	ने वचन	ने यह वचन
137	23	2	लोक प्रकाशन	लोक प्रकाशक
138	23	23	रहा	कहा
141	23	58, 66	दोड़, मात्र नहीं	दौड़, मात्र भी नहीं
145	24	12, 18, 22	एषणा,अचित, प्रकार की कहो	एषण, अचित्त प्रकार कही
146	25	5	पारण कार्य	पारणकाय
148	25	14	तुम्हों	तुम्हीं
149	25	( ),35	बान्धव को, कहा उसने	बान्धव गण को, कहा है उसने
150	25	40, 43	भोतपर, विनय घोष	भींतपर, विजयघोष
151	26	1	का	को
		4	कहो	कही
		8, 7	समाचारियां, गुरु को	समाचारी यों, गुरुवर को
		11	प्रविक्षण	प्रविचक्षण
152	26	14	परिणाम	परिमाण
152	26	15, 23	भाद्र व, मुखवस्त्रिका	भाद्रव, मुखवस्त्री का
153	26	29, 31	प्रतिलेखना में, तोसरे में	प्रतिलेखन में, तीसरे में
155	27	3, 6	टट, कोई	टूट, कोई कोई
157	28	3, 10	हैं अधंमल, लक्ष्य	है झट अधमल, लक्ष्म
160	29	2, 10	रखक, त्याग फिर	रखकर, त्याग तथा फिर
161	29	16	क्रोघ	क्रुध्
162	29	34	संयुक्त	संयुत
163	29	50, 52	का, करदेता है शोघ्र	का, करदेता शीघ्र

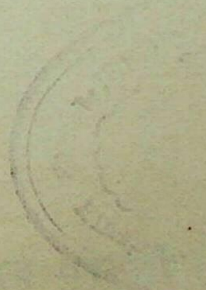
पृष्ठ	अध्ययन	पद्य	अशुद्ध	शुद्ध
164	29	59, 61	अनुपेक्षा, ता	अनुप्रेक्षा, तो
166	29	85	किचित्	किंचित्
167	29	96	हलके मन को,	हलकेपन को
		100	अपुनरावृत्तिकर	अपुनरावृत्ति प्राप्त कर
		102	क्या फल	क्या फल है
170	29	145	अघ को धुनता	अघ धुनता
171	29	153	अन्तर्मुहूर्त मितमें रहु,	अन्तर्मुहूर्त रह
	29	155	नाम का ध्यान	नाम का शुक्ल ध्यान
173	30	22	मुझ का	मुझको
174	30	32	गुरुजनों को	गुरुजन को
176	31	13	अध्ययन	अध्ययनों
178	32	17	नारी दुस्तर	नारी सम दुस्तर
179	32	31	झट	झूठ
	32	33	द्वष रत	द्वेवरत
180	32	51	क्षण पाता	क्षण वह पाता
183	32	88	बनता द्वेष	बनता फिर द्वेष
184	32	102	वेद विविघ	वेद यों विविध
187	34	9	कुंद कुसुम	कुन्द कुसुम सम
188	34	17	केशरी	केशर
192	35	12	प्रसरणील	प्रसरणशील
198	36	65	और बहुत	और बहुत्व
201	36	100	लोक व्याप्त	लोक में व्याप्त
205	36	164	घमाभा	धूमाभा
207	36	192	अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट खेचर,	अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट खचर
210	36	222	सुरों को	सुरों की
	36	229	देवों को	देवों की
211	36	238	ग्रवेयक	ग्रैवयक
	36	243	इकतीस	एकतीस
212	36	258	जो मरते जीव	जो मरते हैं जीव





दशवैकालिक-उत्तराध्ययन

हिन्दी पद्यानुवाद



दशवैकालिक-उत्तराध्ययन

हिन्दी पद्यानुवाद

अनुवादक

मुनि मांगीलाल 'मुकुल'

जैन विश्व भारती (लाडनूं) प्रकाशन

प्रबन्ध-सम्पादक :
श्रीचन्द रामपुरिया
निदेशक :
आगम और साहित्य प्रकाशन

माघ सुदी ७
विक्रम संवत् २०३२
सन् १९७६

मूल्य : १० रुपये

मुद्रक :
सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस
मौजपुर, शाहदरा
दिल्ली-११००५३

प्रकाशकीय

मुनि श्री माँगीलालजी 'मुकुल' द्वारा प्रस्तुत 'दशवैकालिक-उत्तराध्ययन' का हिन्दी पद्यानुवाद पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हुए हर्ष हो रहा है। विद्वद्वर मुनि श्री दुलहराज जी ने अपनी प्रस्तावना में इस कृति पर विस्तृत प्रकाश डाला है। युग प्रधान परम श्रद्धेय आचार्य श्री तुलसी का आशीर्वाद प्राप्त है। अनुवाद गेय है, अतः अति सरस और चित्ताकर्षक बना है।

इस कृति के प्रकाशन का अर्थ-भार श्री तोताराम जगदीश राय (मंडी कालावली, हरियाणा) ने वहन किया है, जिसके लिए उन्हें हार्दिक धन्यवाद है। हम आशा करते हैं कि सत्साहित्य के प्रकाशन और प्रचार में उनका ऐसा उदार सहयोग संस्थान को सदा प्राप्त होता रहेगा।

४६८४, मेन अन्सारी रोड
दिल्ली-६
३-२-७६

श्रीचन्द रामपुरिया
निदेशक
आगम एवं साहित्य प्रकाशन विभाग
जैन विश्व भारती

आशीर्वचन

आगम-सम्पादन का काम जब से हाथ में लिया है, इस कार्य में अनेक साधु-साध्वियाँ लगे हुए हैं। कोई पाठ-सम्पादन के काम में संलग्न है, कोई शब्द-सूची तैयार कर रहा है, कोई अनुवाद कर रहा है, तो कोई समीक्षात्मक अध्ययन लिख रहा है और कोई टिप्पण, भूमिका आदि के लेखन में व्यस्त है। ये सब कार्य आगम-सम्पादन के अभिन्न अंग हैं।

मुनि मांगीलाल 'मुकुल' ने दशवैकालिक और उत्तराध्ययन सूत्रों का हिन्दी पद्यानुवाद तैयार किया है। इन्होंने अपनी दृष्टि से काफी श्रम किया है। मैं इस कार्य को अभ्यास के रूप में स्वीकार करता हूँ। यह प्राथमिक प्रयास है। भविष्य में इन्हें अपने कार्य में विशेष गतिशील रहना है। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का यह सरल, सुबोध पद्यानुवाद जन-जन के लिए उपयोगी बने, इसी आशा के साथ—

आचार्य तुलसी

ग्रीन हाउस,
सी-स्कीम, जयपुर
१५-१०-७५

प्रस्तावना

जैन आगम चार भागों में विभक्त हैं—१. अंग २. उपांग ३. मूल और ४. छेद। अंग ११, उपांग १२, मूल ४ और छेद ४ हैं। प्रस्तुत कृति 'मूल' विभाग से संबंधित है, अतः इस विषय में कुछ ऊहापोह करना प्रसंगप्राह्य है।

'मूल' विभाग बहुत प्राचीन नहीं है। संभव है, यह विभाग विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के बाद का है। आगमों में केवल अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य—यह विभाग प्राह्य होता है। जब आगम-पुरुष की कल्पना हुई तब यह विभाग हुआ और मूल-स्थानीय सूत्रों की समायोजना की गई। प्राचीन श्रुत-पुरुष की रेखाकृति में चरण (मूल) स्थानीय दो आगम थे—आचारांग और सूत्रकृतांग। अर्वाचीन श्रुत-पुरुष की रेखाकृति में इनमें परिवर्तन हुआ। इन दो आगमों के स्थान पर दशवैकालिक और उत्तराध्ययन—ये दो आगम आ गए।

कितने और कौन-कौन से आगम 'मूल' संज्ञा के अन्तर्गत आते हैं, इसमें सभी विद्वान एकमत नहीं हैं। किन्तु अनुयोगद्वार, नंदी, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक 'मूल' सूत्र हैं, इसे अधिक मान्यता प्राप्त है।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इन्हें 'मूल' संज्ञा क्यों दी गई ? इस प्रश्न को समाहित करने के लिए अनेक विद्वानों ने अनेक आनुमानिक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। आचार्य श्री तुलसी ने इसकी मीमांसा करते हुए लिखा है—दशवैकालिक और उत्तराध्ययन मुनि जीवन की चर्या के प्रारम्भ में मूलभूत सहायक बनते हैं तथा आगमों का अध्ययन इन्हीं के पठन से प्रारम्भ होता है, इसीलिए इन्हें 'मूल' सूत्र की मान्यता मिली, ऐसा प्रतीत होता है। दूसरी बात है—"इनमें मुनि के मूल गुणों—महाव्रत, समिति आदि का निरूपण है, इस दृष्टि से इन्हें 'मूल' सूत्र की संज्ञा दी गई है।"[1]

दशवैकालिक

यह निर्यूहण कृति है। आचार्य शय्यंभव श्रुतकेवली थे। उन्होंने अपने पुत्र शिष्य मनक के लिए, विभिन्न पूर्वों से, इसका निर्यूहण किया। वीर निर्वाण की प्रथम शताब्दी में चंपा नगरी में यह कार्य संपन्न हुआ, ऐसा माना जाता

१. दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि, भूमिका पृ० ३।

है। इस आगम की रचना से पूर्व नव दीक्षित मुनि को आचारांग के बाद उत्तराध्ययन पढ़ाया जाता था। बाद में आचारांग का स्थान दशवैकालिक ने ले लिया।

इसके दस अध्ययन और दो चूलिकाएँ हैं। इसमें ५१४ श्लोक तथा ३१ सूत्र हैं। यह आगम पद्यमय है। केवल चौथे, नौवें और प्रथम चूलिका में गद्यभाग है। यह सूत्र दिगम्बर और श्वेताम्बर—दोनों परम्पराओं को समान रूप से मान्य रहा है। वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा में नव दीक्षित मुनि को सर्व प्रथम इसी आगम की वाचना दी जाती है।

इस आगम पर भारतीय आचार्यों ने प्राकृत, संस्कृत तथा गुजराती मिश्रित राजस्थानी में अनेक व्याख्या-ग्रन्थ लिखे। इन व्याख्या-ग्रन्थों में विक्रम की ३-५ शताब्दी के महान् आचार्य अगस्त्यसिंह स्थविर द्वारा लिखी गई चूर्णि प्राचीनतम है। इसका पहली बार प्रयोग हमारे यहाँ से संपादित और विवेचित 'दसवेआलियं' में हुआ है। संस्कृत में लिखी टीकाओं में आठवीं शताब्दी के महान् आचार्य हरीभद्र द्वारा लिखित टीका विश्रुत है।

यह आगम शैक्ष को मुनि जीवन की प्रारंभिक चर्याओं के विधि-विधानों की अवगति देता है तथा अध्यात्म में लीन रहने की भावना को दृढ़मूल बनाता है।[1]

उत्तराध्ययन

इसमें दो शब्द हैं—उत्तर और अध्ययन। इस आगम के छत्तीस अध्ययन हैं। इसके अंतिम श्लोक (३६।२६८) से यह ज्ञात होता है कि यह भगवान् महावीर की अंतिम वाणी है। इसका निरूपण करते-करते भगवान् सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए। कुछेक विद्वान् इसे एककर्तृक नहीं मानते। हमारा भी यही मानना है कि यह संकलन-सूत्र है।[2] इसका पहला संकलन वीर निर्वाण की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ और उत्तरकालीन संस्करण देवर्धिगणी के समय में सम्पन्न हुआ।

इसमें ३६ अध्ययन हैं। इसका प्रतिपाद्य विशद है और विभिन्न विषयों को आत्मसात् किए चलता है। एक शब्द में इस आगम को भगवान् महावीर की विचारधारा का प्रतिनिधि-सूत्र कहा जा सकता है। इसमें १६३८ श्लोक और ८९ सूत्र हैं। यह पद्यात्मक आगम है। केवल उनतीसवाँ अध्ययन गद्यात्मक

---

१. विस्तार के लिए देखें—दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन, वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी, संपादक-विवेचक—मुनि नथमल।

२. विस्तार के लिए देखें—उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन, वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी, संपादक-विवेचक—मुनि नथमल।

है और दूसरे तथा सोलहवें में कुछ गद्यभाग है। इस आगम पर अनेक व्याख्या-ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। उनमें संस्कृत भाषा में लिखी गई 'वृहद्वृत्ति' बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके कर्त्ता हैं—वादिवेताल शांति सूरी। इनका अस्तित्वकाल विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है। इस 'वृहद्वृत्ति' के आधार पर बारहवीं शताब्दी में नेमीचन्द्र सूरी ने 'सुखबोधा' नाम की टीका लिखी। उसकी अपनी यह विशेषता है कि उसमें प्राकृत कथाओं का सुन्दर संकलन किया गया है। इस आगम पर जिनदास महत्तर कृत चूर्णि भी प्राप्त होती है, किन्तु वह इतनी विशद नहीं है।

प्रस्तुत प्रयत्न

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन—इन दो आगमों पर हिन्दी में अनेक व्याख्या-ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। तेरापंथ संप्रदाय ने भी आगम-संपादन-कार्य प्रारम्भ किया। उसके वाचना प्रमुख हैं—आचार्य तुलसी और संपादक-विवेचक हैं मुनि नथमल। अनेक साधु-साध्वियों का इसमें अविकल योग भी प्राप्त है। कार्य अपनी गति से चल रहा है। अनेक आगम प्रकाशित हो चुके हैं और विद्वत् समाज में समादृत भी हुए हैं। 'दसवेआलियं' इस नाम से दशवैकालिक सूत्र का हिन्दी अनुवाद तथा विस्तृत टिप्पणी से युक्त संस्करण प्रकाशित हुआ है। साथ-साथ 'दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन' भी प्रस्तुत सूत्र के विभिन्न पहलुओं पर विशद प्रकाश डालता है। इसी प्रकार 'उत्तरज्झयणाणि' के दो भाग तथा 'उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन'—ये तीनों ग्रन्थ उत्तराध्ययन की सर्वांगीण व्याख्या के बेजोड़ ग्रन्थ हैं।

प्रस्तुत प्रयत्न की अपनी विशेषता है। मुनि मुकुलजी ने दोनों आगमों को सरल हिन्दी पद्यों में गूंथ कर जन-जन के लिए सुबोध बना दिया है। आगमों के पद्यात्मक अनुवाद का भी अपना मूल्य होता है, क्योंकि आबाल-गोपाल उसको पढ़ने में रस लेता है। मैं यह कहने का अधिकारी तो नहीं हूँ कि यह कृति कितनी सशक्त बन पड़ी है, किन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि लोगों के लिए यह उपयोगी सिद्ध होगी। मुनि मुकुलजी ने दो बार इस कृति को सँवारने में परिश्रम किया, यह उनकी निष्ठा का ही प्रतिफलन है। आगमों की इस पद्यात्मक-विधा का जनता स्वागत करेगी, इसी आशा के साथ—

ग्रीन हाउस,
सी-स्कीम, जयपुर
१० अक्टूबर १९७५

—मुनि दुलहराज

स्वकथ्य

विक्रम संवत् दो हजार सोलह की बात है कि मुनि श्री राजकरणजी उदयपुर डिविजन के लाम्बोडी ग्राम में विराज रहे थे। वहाँ पर पंडित दीनानाथ 'दिनेश' की लिखी हुई गीता का पद्यानुवाद देखने को मिला। उस पुस्तक का आद्योपान्त पारायण करने पर एक बात सूझी कि क्या ही अच्छा हो यदि उत्तराध्ययन सूत्र (जिसे जैन गीता कहा जा सकता है) का इसी ढंग से हिन्दी में पद्यानुवाद तैयार होकर जनता के सामने आए। इससे और नहीं तो कम से कम साधारण जैन श्रावक समाज को बहुत बड़ा स्वाध्याय का लाभ मिल सकता है। मैंने मुनि श्री राजकरणजी से निवेदन किया कि आप उत्तराध्ययन सूत्र का हिन्दी में पद्यानुवाद तैयार करें। उन्होंने कहा, तुम्हीं तैयार करो। कुछ दिनों तक मैं सोचता रहा। फिर दिमाग में एक बात आई कि उत्तराध्ययन सूत्र तो बहुत बड़ा है। पहले दशवैकालिक सूत्र का पद्यानुवाद तैयार किया जाए तो छोटा होने के कारण सुगमता रहेगी।

जेठ के महीने में 'खरणोटा' ग्राम में मैंने दशवैकालिक सूत्र के पहले अध्ययन का पद्यानुवाद लिखकर मुनि जी को दिखाया। उन्होंने उसकी सराहना की। फिर तो आव देखा न ताव रात-दिन इसमें ही जुटा रहा। फलस्वरूप लगभग एक महीने में पद्यानुवाद तैयार हो गया। मुनि श्री राजकरणजी से मैंने इसकी पाण्डुलिपि बनवाई। फिर जब परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर के दर्शन किये तब यह कृति उन्हें भेंट की गई। किन्तु अतीव व्यस्तता के कारण आचार्य प्रवर उस वक्त उसे देख नहीं पाए। मैंने अपने साथी सन्तों को तथा बड़े सन्तों को पद्यानुवाद दिखाया। उन्होंने मुझे बहुत थपथपाया।

विक्रम संवत् दो हजार अठारह का चातुर्मास मुनि श्री राजकरणजी का बीकानेर और साहित्य-परामर्शक मुनि श्री बुद्धमलजी का गंगाशहर था। इन दोनों सिंघाड़ों का मिलन नोखामण्डी में हुआ। हम शेष काल में भी महीनों तक साथ रहे। मैंने मुनि श्री बुद्धमलजी से निवेदन किया कि 'दशवैकालिक' का पद्यानुवाद मैंने जो तैयार किया है, आप उसका संशोधन कर दें। आपका बहुत-बहुत आभार मानूंगा। मेरे इस नम्र निवेदन पर उन्होंने कृपा करके इसे स्वीकार किया और प्रति दिन एक-डेढ़ घण्टा उनके समीप बैठकर मैं इसका संशोधन कराता गया। इससे मुझे बहुत बड़ा लाभ हुआ।

सन् १९६१ के दिसम्बर १० से 'जैन भारती' साप्ताहिक में इसके क्रमशः सात अध्ययन प्रकाशित हुए। बाद में वि०सं० दो हजार उन्नीस के प्रारम्भ में ही मुनि श्री पूनमचन्दजी (श्रीडूंगरगढ़) ने मेरे से आग्रह किया कि उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नीसवें अध्ययन का पद्यानुवाद मुझे बनाकर दो, क्योंकि वह मुझे बहुत

प्रिय है। मैं उनका आग्रह टाल नहीं सका। केवल छह दिनों में उसका पद्यानुवाद बनाकर उनको दिया। वे बड़े प्रसन्न हुए। फिर बीसवें तथा इक्कीसवें अध्ययन का पद्यानुवाद हिसार पहुँचने पर तैयार किया। तब यह आत्म-विश्वास पैदा हुआ कि अब समस्त उत्तराध्ययन का पद्यानुवाद किया जा सकता है। फिर मैं अनुवाद-कार्य में जुट गया। अनेक उतार-चढ़ाव आए। अन्त में वि० सं० २०१६ चैत्र कृष्ण ५ को कार्य पूरा हुआ और इसके साथ-साथ वर्षों से सँजोई हुई मेरी साध भी पूरी हुई। आत्मतोष से मन भर गया।

लाडनूं में परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर के दर्शन होने पर जब यह कृति भेंट की गई तो करीब बीस मिनट तक अवलोकन के पश्चात् गुरुदेव ने फरमाया कि 'अच्छी मेहनत की है। ठीक बनाया।'

'जैन भारती' मासिक सन् १९६८ मार्च के अङ्क में इसका तेईसवाँ अध्ययन 'केशी-गौतम संवाद' प्रकाशित हुआ। फिर जून के अङ्क से क्रमशः आठ अध्ययन प्रकाशित हुए।

वि० सं० दो हजार उन्तीस के मर्यादा-महोत्सव पर साहित्य उपसमिति का गठन हुआ। उसके निर्णयानुसार अप्रकाशित साहित्य को भेंट करना अनिवार्य था। मैंने यह कृति भी भेंट की। उपसमिति ने कुछ सुझाव देते हुए कहा कि इन दोनों ही कृतियों का पुनः अवलोकन किया जाय। उस परामर्श के अनुसार वि० सं० दो हजार इकतीस पचपदरा में लगभग छह महीनों तक इसी में लगा रहा। पुनः इन दोनों कृतियों को संशोधित कर उपसमिति के समक्ष रखा। उपसमिति ने इन्हें मान्यता दे दी। 'जैन विश्व भारती' ने इन्हें पुस्तक का रूप दे दिया।

मैं कहाँ तक सफल रहा, इसका निर्णय विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। किन्तु मुझे जो आनन्दानुभूति हुई, समय का सदुपयोग हुआ, चित्त की एकाग्रता रही, वह निश्चित ही अनिर्वचनीय है।

अतः सुज्ञ पाठकों से एक निवेदन करना आवश्यक समझता हूं कि जहाँ कहीं भी इन कृतियों में कमियाँ ध्यान में आयें, मुझे बतलाने का कष्ट करें, ताकि अगले संस्करण में मैं उनका संशोधन-परिमार्जन कर सकूँ।

अन्त में तेरापंथ शासन एवं युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मेरे जैसे पामर प्राणी पर अपना वरद हस्त रखकर उसे दो अक्षर बोलने एवं लिखने लायक बनाया।

इस अवसर पर मैं मुनि श्री दुलहराजजी को भी नहीं भुला सकता, जिन्होंने अन्यान्य सहयोग के अतिरिक्त इसकी प्रस्तावना लिखकर भी मुझे अनुग्रहीत किया है।

आसीन्द (भीलवाड़ा), राजस्थान
वि० सं० २०३२, आश्विन शुक्ला ८ — मुनि मुकुल
१२।१०।७५

विषय-सूची

पृष्ठ

दशवैकालिक

मंगलाचरण

विघ्न-विनाशक, विमलतम, विगत-मोह, विश्वेश।
विशद, विबुध, विभु वीर का, करता विनय विशेष ॥१॥

भिक्षु आदि गणपति नवक, जिन-प्रतिनिधि गुरुदेव।
जगदुद्धारक दें मुझे, सन्मति सुगुण सदैव ॥२॥

दशवैकालिक सूत्र यह, प्राकृतमय अनवद्य।
हिन्दी पद्यों में इसे, गुम्फित करता सद्य ॥३॥

पहला अध्ययन

द्रुमपुष्पिका

*धर्म सर्वोत्कृष्ट मंगल, अहिंसा तप त्याग है,
देव भी नमते जिसे, नित धर्म से अनुराग है ॥१॥

यथा द्रुम के पुष्प का रस, स्वल्प पीता है भ्रमर,
नहीं सुम को म्लान करता, और भरता निज उदर ॥२॥

मुक्त ऐसे श्रमण होते, साधु-जन इस भुवन में,
दान-भक्त-गवेषणा-रत, विहंगम ज्यों सुमन में ॥३॥

वृत्ति पाएंगे वही, जिससे न पर को हो व्यथा,
यथाकृत-रत घूम घर-घर, भ्रमर पुष्पों पर यथा ॥४॥

जो कि मधुकर-सम अनिश्रित, बुद्ध होते दान्त हैं,
रक्त नाना-पिण्ड में, इससे कहाते संत है ॥५॥

---

* जहाँ ऐसा चिह्न है वह गीतक छन्द है। जहाँ † ऐसा चिह्न है वह राधेश्याम छन्द है।

दूसरा अध्ययन

श्रामण्यपूर्वक

*श्रमणता कैसे निभाए, काम-उपरत जो न हो,
सीदता हर कदम पर, संकल्प से वह विवश हो ॥१॥

वसन, भूषण, सुरभि, वनिता और शय्यादिक सभी।
छोड़ता जो विवश हो, त्यागी न कहलाता कभी ॥२॥

प्राप्त जो प्रिय कान्त भोगों को दिखाता पीठ है।
स्ववश भोग तजे वही, त्यागी कहाता श्रेष्ठ है ॥३॥

†समता में रहते यदि बाहर कभी निकल जाए यह मन।
वह मेरी न कभी मैं उसका, तजे राग यों सोच श्रमण ॥४॥

निज को तपा, सौकुमार्य तज, काम-विजय से दुःख-विजय।
छेद दोष तज राग सुखी यों, संसृति में होगा निश्चय ॥५॥

*धूमकेतुक, दुरासद, प्रज्वलित पावक में सही।
अगन्धन-कुल सर्प पड़ते, वान्त फिर लेते नहीं ॥६॥

धिक् तुझे है यशःकामिन्! भोग जीवन के लिए।
वमन पीना चाहता तो, मृत्यु शुभ तेरे लिए ॥७॥

पुत्र अन्धक-वृष्णि का तू, भोज-पुत्री मैं अहो।
हम न गन्धन-कुल सदृश हों, अचल संयम में रहो ॥८॥

राग-भाव अगर करेगा, नारियों को देखकर।
वायु-आहत हट[1] सदृश, अस्थिर बनेगा शीघ्रतर ॥९॥

वह सुभाषित वचन, उस संयमवती के श्रवण कर।
धर्म में स्थिर हुआ ज्यों, अंकुश-प्रशासित गज-प्रवर ॥१०॥

बुद्ध, पंडित, विचक्षण, इस भाँति करते हैं सदा।
भोग से होते अलग जैसे कि पुरुषोत्तम मुदा ॥११॥

---

१. वनस्पति विशेष।

तीसरा अध्ययन

क्षुल्लकाचार

*चरित सुस्थित, आत्म-त्रायी, मुक्त ऋषि निर्ग्रन्थ हैं।
कहे उनके लिए ये सब, अनाचीर्ण नितान्त हैं ॥१॥

क्रीतकृत[1] उद्दिष्ट[2] फिर नित्याग्र[3] अभिहृत[4] अशन भी।
रात्रि-भोजन, स्नान, सौरभ, पुष्प-माला व्यजन[5] भी ॥२॥

वस्तु-संचय, गृहि-अमत्र[6] व किमिच्छक[7] नृप-भोजनम्।
दन्त-क्षालन, विमर्दन, तन-विलोकन, संप्रच्छनम्[8] ॥३॥

'नालिकाष्टापद[9][10] तथा फिर छत्र-धारण बीसवाँ।
चिकित्सा, पादुका, शिखि-आरम्भ है तेबीसवाँ ॥४॥

पिण्ड-शय्यातर व आसन, पलंगों पर बैठना।
गृहान्तर में बैठना औ गात्र की उद्वर्तना ॥५॥

गृही की सेवा पुनः आजीव-वृत्ति तथा यहाँ।
मिश्र-भोजन भोगना आतुर-स्मरण है फिर कहा ॥६॥

मूल[11], अदरक, इक्षुखण्ड व कंद, मूल[12] सचित्त है।
सभी फल औ बीज कच्चे चेतना संयुक्त हैं ॥७॥

नमक सौवर्चल व सैंधव रुमा लवण अपक्व भी।
सिन्धु-उद्भव और पांशु-क्षार काला नमक भी ॥८॥

---

१. निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया। २. साधु के निमित्त बनाया गया। ३. आदर-पूर्वक निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला आहार। ४. साधु के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया। ५. पंखा झेलना। ६. गृहस्थी के पात्र में भोजन करना। ७. 'कौन क्या चाहता है ?' यों पूछकर दिया जाने वाला भोजन। ८. गृहस्थ की कुशल पूछना या शरीर पोंछना। ९. नलिका से पासा डालकर जुआ खेलना। १०. शतरंज खेलना। ११. मूली। १२. जड़।

धूम-नेत्र[१], वमन, विरेचन, वस्तिकर्म[२] तथा कहा।
दन्तवण, अञ्जन व गात्राभ्यङ्ग व विभूषण रहा ॥९॥

महाऋषि निर्ग्रन्थ हित, ये अनाचीर्ण सभी कहे।
जो कि संयम-युक्त हो लघुभूत विहरण कर रहे ॥१०॥

षट्क-संयत, त्यक्त-पंचास्रव, त्रिगुप्ति-सुगुप्त है।
पंच-निग्रह, धीर, ऋजुदर्शी वही निर्ग्रन्थ है ॥११॥

ग्रीष्म में आतापते, हेमन्त में तजते वसन।
रहे प्रतिसंलीन पावस में, समाहित संत-जन ॥१२॥

परीषह-रिपु दमनकर्त्ता, धूतमोह रहे मुदा।
जितेन्द्रिय सब दुःख-नाशन-हित पराक्रम रत सदा ॥१३॥

कष्ट दुःसह सहन कर, दुष्कर क्रिया करके कई।
दिवंगत होते व नीरज सिद्ध होते हैं कई ॥१४॥

त्याग तप से पूर्व कर्मों को खपा त्रायी महा।
सिद्धि पथ-अनुप्राप्त वे, निर्वाण पाते हैं कहा ॥१५॥

---

१. धूम्र-पान की नलिका रखना।
२. रोग की संभावना से बचने के लिए अपान-मार्ग से तैल आदि चढ़ाना।

चौथा अध्ययन

षड्जीवनिका

*सुना आयुष्मन्! यहाँ आख्यात स्थविर महान् से।
यों छःजीवनिकाय नामक अध्ययन मैंने इसे ॥१॥

श्रमण भगवत् वीर काश्यप से प्रवेदित है सही।
सूक्त है प्रज्ञप्त सम्यक् कह रहा तुम से वही ॥२॥

अध्ययन यह श्रेयकर है लिए आत्मा के महा।
धर्म का सद्बोध इसका पठन हितकर है कहा ॥३॥

कौन-सा षट्जीवसमुदय नाम वह अध्ययन है।
कथित जिसमें श्रमण भगवत् वीर काश्यप वचन हैं ॥४॥

प्रवेदित प्रज्ञप्त है कल्याणकर उसका पठन।
धर्म का सद्बोध जिसमें, करूँगा उसका मनन ॥५॥

यह छःजीवनिकाय नामक अध्ययन प्रज्ञप्त है।
श्रमण भगवत् वीर काश्यप से प्रवेदित सूक्त है ॥६॥

अध्ययन वह श्रेयकर है लिए आत्मा के महा।
धर्म का सद्बोध इसका पठन हितकर है कहा ॥७॥

भूमि अप्कायिक व तेजो वायुकायिक तद्यथा।
वनस्पतिकायिक पुनः त्रसकाय प्राणी हैं तथा ॥८॥

शस्त्र-परिणति के बिना पृथ्वी सचित्त सुकथित है।
हैं अनेकों जीव जिनका भिन्न ही अस्तित्व है ॥९॥

शस्त्र-परिणति के बिना पानी सचित्त सुकथित है।
हैं अनेकों जीव जिनका भिन्न ही अस्तित्व है ॥१०॥

शस्त्र-परिणति के बिना पावक सचित्त सुकथित है।
हैं अनेकों जीव जिनका भिन्न ही अस्तित्व है ॥११॥

शस्त्र-परिणति के बिना मारुत सचित्त सुकथित है।
हैं अनेकों जीव जिनका भिन्न ही अस्तित्व है ॥१२॥

शस्त्र-परिणति के बिना सब हरित कथित सचित्त है।
हैं अनेकों जीव जिनका भिन्न ही अस्तित्व है ॥१३॥

अग्र-बीजक, मूल-बीजक, पर्व-बीजक तद्यथा।
स्कन्ध-बीजक, बीजरुह, संमूर्च्छिमक है तृणलता ॥१४॥

शस्त्र-परिणति बिन सबीजक हरित कथित सचित्त है।
हैं अनेकों जीव जिनका भिन्न ही अस्तित्व है ॥१५॥

और त्रस प्राणी अनेकों जो यहाँ पर कथित हैं।
तद्यथा अंडज, जरायुज, रसज, पोतज प्रथित हैं ॥१६॥

स्वेदजोद्भिज्ज, संमूर्च्छिम, औपपात सकर्म हैं।
इन किन्हीं का सामने आना व जाना धर्म है ॥१७॥

गात्र का संकोचना या फिर प्रसारण ध्वनन है।
घूमना, डरना, पलायन ज्ञात गमनागमन है ॥१८॥

और जो कीड़े, पतंगे, कुंथु अथवा चींटियाँ।
सभी द्वीन्द्रिय सभी त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिया ॥१९॥

सभी पंचेन्द्रिय व तिर्यंग् सभी नारक मनुज भी।
सुर सभी हैं तथा सुख के इच्छु हैं प्राणी सभी ॥२०॥

यही जीवनिकाय छट्ठा काय त्रस निश्चय कहा।
अतः हिंसा छोड़ दो यह सीख आगम दे रहा ॥२१॥

नहीं दण्डाऽरंभ इन षट्काय जीवों का सही।
करे करवाये तथा फिर भला भी समझे नहीं ॥२२॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नहीं करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥२३॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन्! सतत अघ हर रहा ॥२४॥

महाव्रत पहला प्रभो ! प्राणातिपात-विरमण है।
त्यागता हूँ सर्व भगवन् ! प्राणवध भव-भ्रमण है ।।२५।।

सूक्ष्म, बादर, त्रस व स्थावर प्राणवध मैं स्वकर से।
करूँगा न स्वयं, कराऊँगा नहीं मैं अपर से ।।२६।।

भला समझूँगा न वध करते हुए को उम्र-भर।
त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता आर्यवर ।।२७।।

कराऊँगा नहीं, करते हुए की अनुमोदना।
नहीं करता, पूर्वकृत की कर रहा आलोचना ।।२८।।

प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा अनुताप मैं।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन् ! बना निष्पाप मैं ।।२९।।

उपस्थित पहले महाव्रत में हुआ प्रभु ! आप से।
सर्वथा प्राणातिपात-विमुक्त हूं संताप से ।।३०।।

बाद इसके दूसरा भगवन् ! महाव्रत सार है।
मृषावाद-विरमण व्रत यह सत्य जगदाधार है ।।३१।।

झूठ को मैं त्यागता हूं हे प्रभो ! अब सर्वथा।
क्रोध, लोभ व हास्य, भय से चतुर्धा है जो यथा ।।३२।।

झूठ खुद बोलूँ न बुलवाऊँ अपर से भी नहीं।
और जो बोले उसे अच्छा नहीं समझूँ कहीं ।।३३।।

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नहीं करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ।।३४।।

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन् ! सतत अघ हर रहा ।।३५।।

दूसरे इस महाव्रत में हूँ उपस्थित आप से।
सर्वथा तज झूठ को प्रभु मुक्त हूँ संताप से ।।३६।।

बाद इसके तीसरा भगवन् ! महाव्रत श्रेय है।
सब अदत्तादान-विरमण नियम समुपादेय है ।।३७।।

त्यागता हूँ अब अदत्तादान को मैं सर्वथा।
ग्राम, नगर, अरण्य में षड्भेद इसके हैं यथा ।।३८।।

अल्प, बहु, अणु, स्थूल वस्तु सचित्त और अचित्त ही।
मैं अदत्त न ग्रहण करता तथा करवाता नहीं ॥३६॥
ग्रहण करते को भला समझूं नहीं मैं उम्र-भर।
त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता आर्यवर ॥४०॥
कराऊँगा नहीं करते हुए की अनुमोदना।
नहीं करता, पूर्वकृत की कर रहा आलोचना ॥४१॥
प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा अनुताप मैं।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन्! बना निष्पाप मैं ॥४२॥
तीसरे इस महाव्रत में हूँ उपस्थित आप से।
सब अदत्तादान तज प्रभु मुक्त हूँ संताप से ॥४३॥
बाद इसके हे प्रभो! चौथा महाव्रत घोर है।
सर्व मैथुन छोड़ना यह व्रत अतीव कठोर है ॥४४॥
त्यागता हूँ मैं प्रभो! इस मिथुन को जो हेय है।
सुर-मनुज-तिर्यंच-योनिक भेद इसके ज्ञेय हैं ॥४५॥
नहीं खुद सेवन करूँ पर से कराऊँगा नहीं।
मिथुन करते हुए पर को भला समझूंगा नहीं ॥४६॥
त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नहीं करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥४७॥
पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन्! सतत अघ हर रहा ॥४८॥
उपस्थित चौथे महाव्रत में हुआ प्रभु आप से।
छोड़कर सब मिथुन भगवन्। मुक्त हूँ संताप से ॥४६॥
बाद इसके पाँचवाँ भगवन्! महाव्रत इष्ट है।
सब परिग्रह से निवर्तन व्रत अतीव विशिष्ट है ॥५०॥
मैं परिग्रह त्यागता हूँ अहो भगवन्! सर्व ही।
अल्प, बहु, अणु, स्थूल वस्तु सचित्त और अचित्त ही ॥५१॥
ग्रहण करता खुद नहीं पर से कराऊँगा नहीं।
ग्रहण करते हुए पर को भला समझूंगा नहीं ॥५२॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नहीं करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥५३॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन्! सतत अघ हर रहा ॥५४॥

पाँचवें इस महाव्रत में हूँ उपस्थित आप से।
सब परिग्रह छोड़ कर प्रभु मुक्त हूं संताप से ॥५५॥

बाद इसके रात्रि-भोजन विरति व्रत छठा कहा।
सर्वथा मैं रात्रि-भोजन अहो भगवन्! तज रहा ॥५६॥

अशन पानी खाद्य स्वाद्यक रात्रि में खाऊँ नहीं।
और न खिलाऊँ व खाते को भला समझूं नहीं ॥५७॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नहीं करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥५८॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन्! सतत अघ हर रहा ॥५९॥

उपस्थित इस छठे व्रत में, मैं हुआ हूँ आप से।
रात्रि-भोजन सर्वथा तज मुक्त हूँ संताप से ॥६०॥

महाव्रत ये पाँच फिर निशि-भुक्ति-विरमण व्रत यही।
आत्म-हित स्वीकार करके मैं विचरता हूँ सही ॥६१॥

साधु-साध्वी गण सुसंयत विरत प्रतिहत-अघ सदा।
और प्रत्याख्यात-पापाचरण रहता सर्वदा ॥६२॥

दिवस में, निशि में, अकेला और परिषद में कदा।
नींद में सोया हुआ या जागता रहता यदा ॥६३॥

भूमि, भित्ति, शिला व ढेले रज-सहित तन वस्त्र हो।
हाथ पग व खपाच काष्ठ व अंगुली या छड़ अहो ॥६४॥

शलाका-संघात से उसको न आलेखन करे।
और न विलेखन करे घट्टन व भेदन परिहरे ॥६५॥

और ये सब अन्य जन से भी न करवाये कभी।
तथा अनुमोदन तजे यह कह रहे गुणिजन सभी ॥६६॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नहीं करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥६७॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन् ! सतत अघ हर रहा ॥६८॥

साधु-साध्वी गण सुसंयत विरत प्रतिहत-अघ सदा।
और प्रत्याख्यात-पापाचरण रहता सर्वदा ॥६९॥

दिवस में, निशि में, अकेला और परिषद् में कदा।
नींद में सोया हुआ या जागता रहता यदा ॥७०॥

उदक, ओस व हिम, कुहासा करक हरतनु नीर को।
शुद्ध पानी को तथा जल-स्निग्ध वस्त्र, शरीर को ॥७१॥

स्वल्प भीगे को नहीं फिर स्पर्श न्यूनाधिक करे।
और आपीड़न-प्रपीड़न से निरन्तर हो परे ॥७२॥

नहीं झाड़े औ सुखाए एकधा बहुधा यमी।
नहीं करवाये न अनुमोदे किसी को भी शमी ॥७३॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नहीं करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥७४॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन् ! सतत अघ हर रहा ॥७५॥

साधु-साध्वी गण सुसंयत विरत प्रतिहत-अघ सदा।
और प्रत्याख्यात-पापाचरण रहता सर्वदा ॥७६॥

दिवस में, निशि में, अकेला और परिषद में कदा।
नींद में सोया हुआ या जागता रहता यदा ॥७७॥

अग्नि या अंगार चिनगारी शिखा ज्वाला विपुल।
काष्ठ-पावक शुद्ध पावक और उल्कादिक अतुल ॥७८॥

नहीं उत्सेचन तथा घट्टन क्रिया मुनिवर करे।
और उज्ज्वालन व विध्यापन क्रिया से हो परे ॥७९॥

और ये सब अन्य जन से भी न करवाये कभी।
तथा अनुमोदन तजे यह कह रहे गुणिजन सभी ॥८०॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नहीं करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥८१॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन् ! सतत अघ हर रहा ॥८२॥

साधु-साध्वी गण सुसंयत विरत प्रतिहत-अघ सदा।
और प्रत्याख्यात-पापाचरण रहता सर्वदा ॥८३॥

दिवस में, निशि में, अकेला और परिषद में कदा।
नींद में सोया हुआ या जागता रहता यदा ॥८४॥

चमर व्यजन व तालवृन्तक पत्र अथवा खंड से।
वृक्ष-शाखा, प्रशाखा या मोर-पिच्छी, पंख से ॥८५॥

वस्त्र वस्त्रांचल तथा निज हाथ या मुख से अरे।
बाह्य पुद्गल या स्वतन को फूंक दे न हवा करे ॥८६॥

और ये सब अन्य जन से भी न करवाये कभी।
तथा अनुमोदन तजे यह कह रहे गुणिजन सभी ॥८७॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नहीं करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥८८॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आत्म का व्युत्सर्ग कर भगवन् ! सतत अघ हर रहा ॥८९॥

साधु-साध्वी गण सुसंयत विरत प्रतिहत-अघ सदा।
और प्रत्याख्यात-पापाचरण रहता सर्वदा ॥९०॥

दिवस में, निशि में, अकेला और परिषद् में कदा।
नींद में सोया हुआ या जागता रहता यदा ॥९१॥

बीज अंकुर हरित जातक छिन्न-शाखादिक यथा।
और इन सब पर प्रतिष्ठित वस्तुओं पर भी तथा ॥९२॥

घुण व अंडे सहित लक्कड़ पर न ठहरे आर्यवर!
तथा बैठे चले सोये भी नहीं संयत प्रवर ॥९३॥

और ये सब अन्य जन से भी न करवाये कभी।
तथा अनुमोदन तजे यों कह रहे गुणिजन सभी ॥९४॥

त्रिविध-त्रिविध मनोवचन तन से न करता उम्र-भर।
नहीं करवाता व अनुमोदन न करता आर्यवर ॥९५॥

पूर्वकृत का प्रतिक्रमण निन्दा व गर्हा कर रहा।
आतम का व्युत्सर्ग कर भगवन्! सतत अघ हर रहा ॥९६॥

साधु-साध्वी गण सुसंयत, विरत, प्रतिहत-अघ, सदा।
और प्रत्याख्यात-पापाचरण रहता सर्वदा ॥९७॥

दिवस में, निशि में, अकेला और परिषद् में कदा।
नींद में सोया हुआ या जागता रहता यदा ॥९८॥

कीट शलभ पिपीलिका या कुंथु हों यदि हाथ पर।
पग, भुजा, जंघा, उदर, सिर, वस्त्र अथवा पात्र पर ॥९९॥

रजोहर पर और गोच्छक तथा उंदुक आदि पर।
दण्ड पीठ व फलक शय्या और संस्तारादि पर १००॥

इस तरह के अन्य उपकरणादि पर प्राणी पड़े।
यत्न से प्रतिलेखना कर बार-बार परे करे ॥१०१॥

प्रमार्जन करके रखे एकान्त में सम्यक् उन्हें।
कष्ट पहुँचे उस तरह न रखे इकट्ठे कर उन्हें ॥१०२॥

अयतना से घूमता वह प्राणि-वध करता सही।
बन्ध होता पाप का जिसका कि फल है कटुक ही ॥१०३॥

अयतना से खड़ा होता प्राणि-वध करता वही।
बन्ध होता पाप का जिसका कि फल है कटुक ही ॥१०४॥

अयतना से बैठता वह प्राणि-वध करता सही।
बन्ध होता पाप का जिसका कि फल है कटुक ही ॥१०५॥

अयतना से लेटता वह प्राणि-वध करता सही।
बन्ध होता पाप का जिसका कि फल है कटुक ही ॥१०६॥

अयतना से जीमता वह प्राणि-वध करता सही।
बन्ध होता पाप का जिसका कि फल है कटुक ही ॥१०७॥

अयतना से बोलता वह प्राणि-वध करता सही।
बन्ध होता पाप का जिसका कि फल है कटुक ही ॥१०८॥

ठहरना, चलना व सोना, बैठना कैसे कहो।
बोलना, खाना मुझे कैसे, न ज्यों अघ-बन्ध हो ? ॥१०९॥

यत्न से चलना, ठहरना, बैठना, सोना अहो।
यत्न से बोलना, खाना, ज्यों नहीं अघ-बन्ध हो ॥११०॥

आत्मवत् सब जीव जिसके, तथा सम्यक् दृष्टि हो।
पिहित-आस्रव दान्त मुनि के, नहीं अघ की सृष्टि हो ॥१११॥

ज्ञान पहले फिर दया यों सभी स्थित हैं संयमी।
अज्ञ नर क्या करे कैसे श्रेय, अघ जाने भ्रमी ? ॥११२॥

जानता सुन श्रेय को अश्रेय को भी श्रवण कर।
अभय को सुन जानता धारे कि जो हो श्रेयतर ॥११३॥

जानता जो जीव को न अजीव को भी जानता।
अज्ञ जीवाजीव का क्या चरित को पहचानता ॥११४॥

जीव को जो जानता व अजीव को भी जानता।
विज्ञ जीवाजीव का, वह चरण को पहचानता ॥११५॥

जानता जो जीव और अजीव दोनों को यदा।
सभी जीवों की विविध गति जान लेता है तदा ॥११६॥

सभी जीवों की विविध गति जान लेता है यदा।
पुण्य, पाप व बन्ध, शिव को जान पाता है तदा ॥११७॥

पुण्य, पाप व बन्ध, शिव को जान पाता है यदा।
त्यागता सब देव मनुजोत्पन्न भोगों को तदा ॥११८॥

त्यागता सब देव मनुजोत्पन्न भोगों को यदा।
छोड़ता संयोग बाह्याभ्यन्तरों का वह तदा ॥११९॥

छोड़ता संयोग बाह्याभ्यन्तरों का वह यदा।
प्रव्रजित मुण्डित स्वयं अनगार होता है तदा ॥१२०॥

प्रव्रजित मुण्डित स्वयं अनगार होता है यदा।
अनुत्तर उत्कृष्ट संवर धर्म अपनाता तदा ॥१२१॥

अनुत्तर उत्कृष्ट संवर-धर्म अपनाता यदा।
ज्ञान-आवारक निरन्तर कर्म-रज धुनता तदा ॥१२२॥

ज्ञान-आवारक निरन्तर कर्म-रज धुनता यदा।
सर्वगामी ज्ञान दर्शन प्राप्त करता है तदा ॥१२३॥

सर्वगामी ज्ञान दर्शन प्राप्त करता है यदा।
जान लोकालोक लेता केवली जिनवर तदा ॥१२४॥

जान लोकालोक लेता केवली जिनवर यदा।
रोक करके योग, पाता दशा शैलेशी तदा ॥१२५॥

रोक करके योग, पाता दशा शैलेशी यदा।
कर्म-क्षय कर रज-रहित बन सिद्धि पाता है तदा ॥१२६॥

कर्म-क्षय कर रज-रहित बन सिद्धि पाता है यदा।
लोकशीर्ष स्थित व शाश्वत सिद्ध होता है तदा ॥१२७॥

सुख-आस्वादक सुख-आकुल बहु शयन जो कि करता यति है।
प्रक्षालन में जो अयत्न है दुर्लभ उसको सद्गति है ॥१२८॥

तप-गुण-प्रमुख सरल मति जो मुनि क्षमा व संयम में रत है।
जित्-परीषह जो है मुनि उसकी सुलभ कही सद्गति नित है ॥१२९॥

[पीछे से चलकर भी अमर-भवन तक शीघ्र पहुँच पाते।
जो तप संयम क्षमा शील को बड़े प्रेम से अपनाते ॥]

*यह छःजीवनिकाय सम्यक्दृष्टि मुनि नित साधता।
प्राप्त दुर्लभ श्रमणता को कर्मणा न विराधता ॥१३०॥

पाँचवाँ अध्ययन

पिण्डैषणा (प्रथम उद्देशक)

*असंभ्रान्त तथा अमूर्छित साधु भिक्षा-काल में।
भक्त, पान गवेषता इस भाँति विश्व विशाल में ॥१॥

गोचरी-गत ग्राम-नगरों में श्रमण धीमे चले।
अनुद्विग्न प्रशान्तचेता दूर पापों से टले ॥२॥

सामने युग-मात्र भू को देख निज पग को धरे।
बीज प्राणी हरित उदक व मृत्तिका वर्जित करे ॥३॥

गर्त अथवा स्थाणु हों पथ विषम या पंकिल धरा।
इन्हें संक्रम[1] से न लाँघे, अगर पथ हो दूसरा ॥४॥

क्योंकि गिरने या फिसलने का सदा भय है जहाँ।
घात संभव त्रस व स्थावर प्राणभूतों की वहाँ ॥५॥

इसलिए संयत समाहित मुनि न उस पथ में चले।
यत्न से जाए अगर पथ दूसरा न उसे मिले ॥६॥

जहाँ गोबर, राख, तुष या कोयलों का ढेर हो।
उन्हें संयत नहीं लाँघे रज सहित यदि पैर हों ॥७॥

पड़े वर्षा धुंहर आए चले आँधी जोर से।
जीव उड़ पड़ते अगर हों, गमन न करे ठौर से ॥८॥

शील-रक्षक न जाए वेश्या-निवेशों के निकट।
ब्रह्मचारी दान्त को भी हो विस्रोतसिका विकट ॥९॥

वहाँ बारम्बार जाने से सतत संसर्ग हो।
व्रत-निपीड़ित हों तथा श्रामण्य में संदेह हो ॥१०॥

---

१. जल या गड्ढे को पार करने के लिए काष्ठ या पाषाण रचित पुल।

अतः दुर्गति-दोष-वर्धक जान करके दान्त हैं।
तजे वेश्या-सन्निवेश, शिवेच्छु जो एकान्त हैं ॥११॥

श्वान या नव-प्रसूता गौ, दृप्त हय-गज-बैल को।
दूर से ही तजे मुनि रण, कलह औ शिशु-खेल को ॥१२॥

हो नहीं उन्नत व अवनत हृष्ट औ आकुल कदा।
यथाविधि इन्द्रिय-दमन करता हुआ विचरे सदा ॥१३॥

दौड़ता, हँसता तथा फिर बोलता न चले मुनि।
जब कि उच्चावच कुलों में गोचरी जाए गुणी ॥१४॥

न देखे चलते समय आलोक थिग्गल[1] द्वार को।
संधि, जल-गृह को तजे, संदेह के आधार को ॥१५॥

नृप, गृहस्थी, कोतवालों की जगह जो गुप्त हों।
दूर से ही तजे जो स्थल क्लेश से संयुक्त हों ॥१६॥

तजे गर्हित कुल तथा गृहपति जहाँ वर्जित करे।
छोड़ अप्रीतिकर कुल, प्रीतिकर कुल में संचरे ॥१७॥

पिहित-सण-प्रावार से, गृह को स्वयं खोले नहीं।
उघाड़े न कपाट को, जब तक कि आज्ञा ले नहीं ॥१८॥

गौचरी-गत मुनि, नहीं मल-मूत्र बाधा धारता।
देख प्रासुक भूमि आज्ञा ले, तुरंत निवारता ॥१९॥

निम्न-द्वारिका तमोमय कोष्ठक तजे मुनि सतत ही।
चक्षु विषय न हो वहाँ प्रतिलेखना दुर्लभ कही ॥२०॥

बीज पुष्पादिक घने जिस कोष्ठ में बिखरे पड़े।
तथा अधुना-लिप्त, गीला, देख पैर नहीं धरे ॥२१॥

भेड़, बालक, श्वान, बछड़ादिक खड़े जिस द्वार पर।
हो प्रविष्ट न साधु उसमें हटाकर या लाँघकर ॥२२॥

न देखे आसक्त बन, अति दूर तक देखे नहीं।
लौट आए मौन होकर स्फार-नयन न हो कहीं ॥२३॥

---

१. घर का वह द्वार, जो किसी कारणवश फिर से चिना हुआ है।

गौचरी-गत साधु मर्यादित धारा लाँघे नहीं।
जानकर कुल-भूमि फिर मित-भूमि पर जाए सही ॥२४॥

विचक्षण भू-भाग की करता वहाँ प्रतिलेखना।
स्नान, शौचालय तरफ मुनि को नहीं है देखना ॥२५॥

उदक-मिट्टी-स्थान[1] बीज व हरित युत भू छोड़कर।
सर्व-इन्द्रिय समाहित फिर वहाँ ठहरे सन्तवर ॥२६॥

वहाँ स्थित मुनि को अगर दे पान-भोजन भक्तजन।
अकल्पिक इच्छे नहीं कल्पिक ग्रहे नित सन्तजन ॥२७॥

कदाचित् नीचे गिराती अशन यदि हो दे रही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नहीं ॥२८॥

बीज प्राणी हरित को वह कुचलती यदि दे अशन।
असंयम करती उसे लख तजे उसको सन्तजन ॥२९॥

वस्तु जो कि सचित्त-संहृत-क्षिप्त-स्पर्शित[2] जानिए।
उस तरह पानी हिलाकर अगर श्रमणों के लिए ॥३०॥

सलिल-अवगाहन, चलित कर पान-भोजन दे रही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नहीं ॥३१॥

पूर्व धोए हाथ चम्मच बर्तनों से दे रही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नहीं ॥३२॥

†इसी भाँति जल-भीगे स्निग्ध स-रज मृत् खार तथा हरिताल।
हिंगुल व मैनशिल या अंजन लवण व गैरिक से उस काल ॥३३॥

पीत धवल मिट्टी सौराष्ट्रिक,[3] पिष्ट, पत्र-रस या तुष से।
असंसृष्ट संसृष्ट करादिक को पहिचानो इस विधि से ॥३४॥

*बिन भरे कर-पात्र-दर्वी से दिया जाए जहाँ।
न इच्छे, संभावना पश्चात्-दोषों की वहाँ ॥३५॥

लिप्त बर्तन-हाथ-दर्वी से दिया जाता कहीं।
ग्रहण करता सर्वथा निर्दोष हो तो मुनि वहीं ॥३६॥

---

१. कच्चे पानी का स्थान और सचित मिट्टी वाला स्थान।
२. सचित्त-संहृत, सचित्त-क्षिप्त, सचित्त-स्पर्शित।
३. गोपी चन्दन—एक प्रकार की मिट्टी।

उभय सह-भोजी जनों में दे निमंत्रण एक नर।
दीयमान न ले अपर की भावना देखे प्रखर ।।३७।।

उभय सह-भोजी मनुज देते निमन्त्रण हों अगर।
दीयमान करे ग्रहण निर्दोष हो तो संतवर ।।३८।।

विविध भोजन सगर्भा-हित बना, वह यदि खा रही।
छोड़ दे उस अशन को, पर भुक्त-शेष ग्रहे सही ।।३९।।

निकट-प्रसवा गर्भिणी यदि उत्थिता बैठे पुनः।
श्रमण-हित बैठी हुई यदि खड़ी होती है पुनः ।।४०।।

संयतों को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नहीं ।।४१।।

बाल अथवा बालिका को स्तन्य पान करा रही।
छोड़ कर रोते उन्हें यदि अशन-पानी दे रही ।।४२।।

संयतों को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नहीं ।।४३।।

जहाँ कल्पाकल्प-शंका पान-भोजन में सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नहीं ।।४४।।

उदक-घट, चक्की व पीढ़े प्रस्तरादिक से पिहित।
तथा लेप व श्लेष आदिक से मँढ़ा हो कुत्रचित् ।।४५।।

श्रमण-हित यदि खोलकर दे, या दिलाये जो कहीं।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नहीं ।।४६।।

अशन-पानक और नाना खाद्य-स्वाद्य कहीं अगर।
दान-हित यह है बना, यों जानकर या श्रवणकर ।।४७।।

संयतों को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नहीं ।।४८।।

अशन-पानक और नाना खाद्य-स्वाद्य कहीं अगर।
पुण्य-हित वह है बना, यों जानकर या श्रवण कर ।।४९।।

संयतों को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नहीं ।।५०।।

अशन-पानक और नाना खाद्य-स्वाद्य कहीं अगर।
वनीपक-हित है बना, यों जानकर या श्रवणकर ॥५१॥

संयतों को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नहीं ॥५२॥

अशन-पानक और नाना खाद्य-स्वाद्य कहीं अगर।
श्रमण-हित वह है बना, यों जानकर या श्रवणकर ॥५३॥

संयतों को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नहीं ॥५४॥

पूतिकर्म[1] व क्रीतकृत, उद्दिष्ट, अभिहृत अशन को।
मिश्र, अध्यवतर[2] तथा छोड़े अशन प्रामित्य[3] को ॥५५॥

किसलिए किसने किया उत्पत्ति कारण पूछकर।
शुद्ध निःशंकित श्रवण कर ले उसे संयत-प्रवर ॥५६॥

अशन-पानक तथा नाना खाद्य-स्वाद्य कहीं यदा।
पुष्प, बीज व हरित से वह मिश्र बन जाए कदा ॥५७॥

संयतों को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नहीं ॥५८॥

अशन-पानक और नाना खाद्य-स्वाद्य कहीं यदा।
पनक या उत्तिंग पानी पर रखा हो एकदा ॥५९॥

संयतों को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नहीं ॥६०॥

अशन-पानक और नाना खाद्य-स्वाद्य कहीं यदा।
अग्नि पर रक्खा व अग्नि-स्पर्श कर जो दे कदा ॥६१॥

संयतों को पान-भोजन वह अकल्पिक है सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नहीं ॥६२॥

चूल्हे में लकड़ी सरकाकर या निकालकर भोजन दे।
ज्वलित-प्रज्वलित करे अग्नि को अथवा निर्वापित कर दे।

---

१. निर्दोष आहार में आधाकर्मी आहार का संयोग होना।
२. अपने लिए बनाये हुए आहार में साधु के लिए कुछ अधिक डाल देना।
३. किसी से उधार लेकर साधु को देना।

अग्नि-स्थित में से सीधा या टेढ़ा भाजन को कर दे।
नीर उफनते पर छिड़के अथवा भाजन उतारकर दे ॥६३॥

*संयतों को पान-भोजन वह अकल्पिक सर्वथा।
कहे देती हुई से—ऐसा न मुझको कल्पता ॥६४॥

काष्ठ-शिल या ईंट का टुकड़ा रखा हो एकदा[1]।
लिए गमनागमन के वह डगमगाता हो कदा ॥६५॥

भिक्षु उस गंभीर पोले पन्थ पर जाए नहीं।
सर्व-इन्द्रिय समाहित के असंयम देखा वहीं ॥६६॥

फलक सीढ़ी पीठ को करके खड़ा, गृहिणी कदा।
मंच स्तंभ मकान चढ़ श्रमणार्थ भिक्षा दे यदा ॥६७॥

यदि पड़े चढ़ती हुई तो हाथ-पग टूटे कभी।
भूमिकाय व तदाश्रित त्रस जीव हिंसा हो तभी ॥६८॥

जान ऐसे महादोषों को महर्षि सुसंयमी।
ले नहीं मालाऽपहृत-भिक्षा कभी ऐसी दमी ॥६९॥

कन्द, मूल, अपक्व-अदरख छिन्न शाक व फल सभी।
और घीयादिक अपक्व न ले श्रमण इनको कभी ॥७०॥

और सत्तू, चूर्ण बेरों का व तिलपपड़ी धरी।
पूप[2] फाणित[3] आदि चीजें हों विपणि में यदि पड़ी ॥७१॥

किन्तु न बिकी हों रजों से बनी लिप्त वहाँ सही।
कहे देती हुई से—मैं इसे ले सकता नहीं ॥७२॥

बहुत-बीजक और बहु-कंटकी अनिमिष फल तथा।
इक्षुखंड व बेल तेन्दू, फलो आस्थिक सर्वथा ॥७३॥

अल्प खाने योग्य, बहु जो फेंक देने योग्य हो।
कहे देती हुई से—इसको न ले सकता अहो ॥७४॥

सलिल उच्चावच व आटे का व गुड़-धोवन प्रवर।
चावलोदक आदि अधुनोत्पन्न छोड़े साधुवर ॥७५॥

बुद्धि से या देखकर चिरधौत यदि वह ज्ञात हो।
श्रवणकर या पूछकर शंका-रहित विज्ञात हो ॥७६॥

---

१. वर्षा के समय। २. मालपुआ। ३. गीला गुड़।

जान परिणत अचेतन संयत ग्रहे उसको अरे।
अगर शंका हो तदा चखकर उसे निर्णय करे ॥७७॥

कहे चखने को मुझे दो हाथ में थोड़ा यही।
बहुत खट्टा सड़ा जल मम प्यास हर सकता नहीं ॥७८॥

सड़ा खट्टा जल बुझाने प्यास जो असमर्थ हो।
कहे देती हुई से—यह कल्पता न मुझे अहो ॥७९॥

अनिच्छा व असावधानी से ग्रहण हो उक्त जल।
स्वयं न पीए अन्य को भी दे नहीं वैसा सलिल ॥८०॥

विजन में जा देख भूमि अचित्त को फिर यत्नतः।
उसे परठे, परठकर प्रतिक्रमण करता शीघ्रतः ॥८१॥

गौचरी-गत मुनि कभी चाहे अशन करना अगर।
भित्ति-मूल अचित्त कोष्ठक को वहाँ फिर देखकर ॥८२॥

सुआच्छादित सुसंवृत स्थल की अनुज्ञा ले कृती।
पूंज हस्तक[1] से वहाँ पर करे भोजन संयती ॥८३॥

अशन करते बीज कंटक काष्ठ तृण कंकर कदा।
तथाविध जो अन्य चीजें अशन में आए तदा ॥८४॥

नहीं फेंके हाथ से थूके न मुख से संयती।
ग्रहण करके हाथ में एकान्त में जाए व्रती ॥८५॥

विजन में जा वहाँ भूमि अचित्त को प्रतिलेख कर।
यत्न से परठे उसे, प्रतिक्रमण करता परठ कर ॥८६॥

स्थान पर ही अशन करना चाहता भिक्षुक अगर।
तो अशन लाकर वहाँ के स्थान को प्रतिलेख कर ॥८७॥

विनय-युक्त प्रवेशकर गुरु पास में आए मुनि।
पढ़े ईर्यापथिक, फिर प्रतिक्रमण शीघ्र करे गुणी ॥८८॥

अशन-पानी ग्रहण करते और गमनागमन में।
यथाक्रम अतिचार सब चिन्तन करे मुनि स्वमन में ॥८९॥

स्थिर-मना ऋतु-प्राज्ञ मुनि उद्वेग-वर्जित चित्त से ?
ग्रहण जो जैसे किया आलोचता गुरु निकट से ॥९०॥

---

१. मुख-वस्त्रिका या पूंजनी या पात्र-प्रमार्जन के काम आनेवाला वस्त्र-खण्ड।

पूर्व-पश्चात्-कृत्य का न हुआ समालोचन सही।
तो दुबारा प्रतिकमे, व्युत्सृष्ट तन, सोचे यही ॥९१॥

वृत्ति जिन ने असावद्य अहो! कही मुनि के लिए।
मोक्ष साधनभूत साधु-शरीर धारण के लिए ॥९२॥

ध्यान निज नवकार से पारे व जिन-संस्तव करे।
कुछ करे स्वाध्याय फिर विश्राम कर निज श्रम हरे ॥९३॥

†लाभार्थी विश्राम समय में करे सुचिन्तन यों हितकर।
तार दिया यों मानूँ यदि मुनिगण जो कृपा करे मुझ पर।

*प्रेम से तब साधुओं को निमन्त्रित क्रमशः करे।
जो करें स्वीकार उनके साथ में भोजन करे ॥९५॥

यदि न स्वीकृत हों तदा आलोक-भाजन में सही।
यत्न से खाए अकेला गिराए नीचे नहीं ॥९६॥

†तिक्त, कटुक व कसैला, खट्टा मधुर, लवणमय जो मिलता
हो अन्यार्थ-प्रयुक्त उसे मुनि मधु घृत सम लख आहरता।

*अरस, नीरस, असूपित[1]-सूपित[2] व गीला शुष्क हो।
मंथु या कुल्माष प्रासुक स्वल्प बहु जो प्राप्त हो ॥९८॥

नहीं निन्दा करे उसकी मुधाजीवी मुनि कदा।
दोष-वर्जित मुधालब्ध अशन करे सम-रत सदा ॥९९॥ युग्मम्

मुधादायी सुदुर्लभ, दुर्लभ मुधाजीवी अरे।
मुधादायी मुधाजीवी उभय सद्गति संचरे ॥१००॥

१. व्यंजन रहित। २. व्यंजन-सहित।

पाँचवाँ अध्ययन

पिण्डैषणा

(द्वितीय उद्देशक)

पात्र में स्थित लेप को भी पोंछकर खाए सभी।
सुगन्धित दुर्गन्धमय छोड़े नहीं संयत कभी ॥१॥

स्थान, मठ, स्वाध्याय भूपर करे भोजन बैठकर।
वह नहीं पर्याप्त हो, निर्वाह करने को अगर ॥२॥

तब सकारण भक्त पानी को मुमुक्षु गवेषता।
पूर्व-कथित विधान से उत्तर-कथित विधि से तथा ॥३॥

समय पर भिक्षार्थ जाए समय पर वापिस फिरे।
भिक्षु असमय को तजे सब कार्य समयोचित करे ॥४॥

समय का न खयाल कर बिन-समय जाते हो अगर।
हो स्वयं तब क्लान्त, करते हो नगर-निन्दा प्रखर ॥५॥

समय पर जाए करे पुरुषार्थ भी अपना प्रखर।
शोक-रत न अलाभ में हो, मान सु-तप सहे प्रवर ॥६॥

बड़े या छोटे समागत जीव भोजन हित जहाँ।
सामने जाए न उनके, चले यतना से वहाँ ।७॥

गोचरी-गत कहीं पर बैठे नहीं संयत-प्रवर।
कथा-वार्ता में नहीं अनुरक्त हो, फिर ठहरकर ॥८॥

गोचरी-गत भिक्षु आगल फलक द्वार कपाट का।
ले सहारा खड़ा न रहे भले हो संयत थका ॥९॥

श्रमण ब्राह्मण कृपण अथवा वनीपक गृहि-द्वार पर।
अशन-पानी के लिए यदि खड़े हों तो संतवर ॥१०॥

लाँघ कर उनको न जाए दृष्टि-गत ठहरे नहीं।
विजन में ठहरे कहीं संयत सतत विधियुक्त ही ॥११॥

वनीपक दाता तथा फिर उभय को अप्रीति हो।
और प्रवचन-हीलना की स्याद् वहाँ पर भीति हो ॥१२॥

निषेधित या दत्त वे जब चले जाएँ लौटकर।
अशन-पानी के लिए जाए वहाँ संयत-प्रवर ॥१३॥

पद्म उत्पल कुमुद अथवा मालती के सुमन को।
तथा अन्य सचित्त सुम को छेदकर दे श्रमण को ॥१४॥

संयतों को पान-भोजन वह अकल्पिक सर्वथा।
कहे देती हुई से—ऐसा न मुझको कल्पता ॥१५॥

पद्म उत्पल कुमुद अथवा मालती के सुमन को।
तथा अन्य सचित्त सुम को कुचलकर दे श्रमण को ॥१६॥

संयतों को पान-भोजन वह अकल्पिक सर्वथा।
कहे देती हुई से—ऐसा न मुझको कल्पता ॥१७॥

कमल-कंद पलाश-कंद व कुमुद उत्पल-नालिका।
पद्म-नाल व इक्षुखण्ड सचित्त सर्षप-नालिका ॥१८॥

वृक्ष तृण या अन्य हरितों के तरुण पत्ते कहे।
कोपलें कच्ची सभी तज सुव्रती संयम बहे ॥१९॥

तरुण मूंगादिक फली कच्ची व भूनी अर्ध हो।
कहे देती हुई से—यों कल्पता न मुझे अहो ॥२०॥

तथा कोल[1] अनुष्ण वेणुक[2] नालिका[3] काश्यप कही।
तजे तिल-पपड़ी अपक्व कदम्ब फल को ले नहीं ॥२१॥

शालि-पिष्ट व अर्ध-तप्त सचित्त जल उस भांति ही।
पोदकी[4], तिल-पिष्ट, सर्षप-खल सचित्त न ले कहीं ॥२२॥

बिजौरा व कपित्थ फल मूले व उसके खण्ड हों।
शस्त्र-परिणति विना कच्चे न इच्छे मन से अहो ॥२३॥

बहेड़ा व प्रियाल फल, फल चूर्ण बीजों का तथा।
जानकर कच्चे उन्हें मुनि छोड़ देता सर्वथा ॥२४॥

सामुदायिक बड़े-छोटे कुलों में भिक्षा करे।
लाँघ छोटे कुल नहीं उच्छृत कुलों में संचरे ॥२५॥

दीनता तज वृत्ति खोजे नहीं खेद करे कृती।
गृद्ध भोजन में नहीं, मात्रज्ञ एषण-रत मति ॥२६॥

---

१. बेर, जो उबला हुआ न हो। २. वंश-करीर। ३. काश्यप-नालिका। ४. पाइंसाग।

गृहि-सदन में प्रचुर खाद्य व स्वाद्य नाना विध जहाँ।
दे न दे इच्छा गृही की, कुपित हो न कृती वहाँ ॥२७॥

शयन, आसन, पान-भोजन, वस्त्र सम्मुख हों धरे।
पर न देता हो गृही तो मुनि न कोप कभी करे ॥२८॥

स्त्री, पुरुष, शिशु, वृद्ध की करता हुआ स्तवना यति।
न याचे, अप्राप्ति पर कटु वचन न कहे सुव्रती ॥२९॥

अवंदित कोपे नहीं, वंदित न दृप्त बने कदा।
वृत्ति यों अन्वेषता, रहती वहाँ मुनिता सदा ॥३०॥

प्राप्त भोजन को अकेला लोभवश हो गोपता।
देखने पर गुरु कदाचित् ले न ले यों सोचता ॥३१॥

लुब्ध उदरंभरी करता बहुत पाप यहाँ सही।
हो सदा दुस्तोष्य वह फिर मोक्ष में जाता नहीं ॥३२॥

अकेला भिक्षार्थ-गत मुनि विविध भोजन प्राप्त कर।
सरस खाकर बीच में, ले विरस आता स्थान पर ॥३३॥

ये श्रमण समझें मुझे मुनि तुष्ट, मोक्षार्थी यही।
रूक्ष-वृत्तिक, भोगता संतोष से नित प्राप्त ही ॥३४॥

सुयश, पूजा, मान या सम्मान-कामी जो बना।
सतत मायाशल्य करता, पाप में रहता सना ॥३५॥

भिक्षु निज चारित्र-रक्षक, आत्म-साक्षी से सही।
सुरा, मेरक आदि मादक रस कभी पीए नहीं ॥३६॥

न कोई जानता मुझको, विजन में पीता कहीं।
चोर मुनि के कपट दोषों को सुनो मुझसे यहीं ॥३७॥

बढ़े माया, मृषा, अयश व अनिर्वाण व मत्तता।
उसी भिक्षुक की अहर्निश बढ़े सतत असाधुता ॥३८॥

चोर ज्यों व्याकुल रहे नित स्वकर्मों से दुर्मति।
मरण तक संवर नहीं आराध पाता वह यति ॥३९॥

वह नहीं आचार्य को मुनिवृन्द को आराधता।
गृही निन्दा करे उन दुर्गुणों का पाकर पता ॥४०॥

धारता यों अवगुणों को सद्गुणों को त्यागता।
नहीं संवर-धर्म वह मरणान्त तक आराधता ॥४१॥

स्निग्ध-रस छोड़े तपस्वी सतत तप को आदरे।
विरत मद्य प्रमाद से मद भी न मेधावी करे ॥४२॥

देख तू कल्याण उसका बहुत मुनि-पूजित सही।
विपुल अर्थ-सुयुक्त का कीर्तन करूँगा सुन वही ॥४३॥

धारता यों सद्‌गुणों को दुर्गणों को त्यागता।
वही संवर-धर्म मुनि मरणान्तक आराधता ॥४४॥

साधता आचार्य को मुनि जनों को आराधता।
गृही पूजा करे उन सद्‌गुणों का पाकर पता ॥४५॥

तप वचन (नियम) आचार भाव व रूप का जो चोर है।
देव किल्बिष कर्म करता, वहीं उसको ठोर है ॥४६॥

प्राप्त कर देवत्व भी वह हुआ किल्बिषि सुर वहाँ।
जानता फिर भी न किस दुष्कृत्य का फल पा रहा ॥४७॥

वहाँ से च्युत एड मूक बने व तिर्यक् नरक को।
प्राप्त करता वहाँ दुर्लभ बोधि है उस मनुज को ॥४८॥

देखकर इस दोष को यों ज्ञात-नन्दन ने कहा।
तजे मुनि अणु मात्र माया-मृषा, मेधावी महा ॥४९॥

'बुद्ध संयतों से भिक्षैषण-शोधि सीख उसमें मुनिवर।
प्रणिहित-इन्द्रिय, विचरे उत्कट संयम-गुण संयुत होकर ॥५०॥

छठा अध्ययन

महाचार-कथा

*ज्ञान-दर्शन सहित संयम और तप में रत सदा।
युक्त आगम से गणी उद्यान में आए मुदा ॥१॥

नृप, अमात्य व विप्र क्षत्रिय नम्रता से पूछते।
आपके आचार का कैसा विषय है मुनिपते! ॥२॥

दान्त, सुस्थित, सर्वभूत-सुखेच्छु, तब उनसे गणी।
विचक्षण, शिक्षा-निपुण, कहने लगे शासन-मणी ॥३॥

सुनो मुझसे धर्म-अर्थाभिलाषी निर्ग्रन्थ का।
भीम, दुर्धर, पूर्ण जो आचार-गोचर सन्त का ॥४॥

परम दुश्चर कथित है आचार जो निर्ग्रन्थ का।
था न होगा, है न वैसा कहीं कोई पन्थ का ॥५॥

वृद्ध, बालक, रोगियों को अखण्डित ये गुण सभी।
पालने हैं एक से वे यथातथ्य सुनो अभी ॥६॥

स्थान अष्टादश, इन्हीं में से विराधे एक भी।
मूढ़ वह निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट हो जाता तभी ॥७॥

(छहों व्रत, षट्काय और अकल्प्य, गृहि-भाजन प्रणी।
तजे पर्यंक व निषद्या, स्नान, शोभा सद्गुणी ॥)

प्रथम उनमें स्थान यह श्री वीर-देशित स्पष्ट है।
अहिंसा, सब भूत-संयममय निपुण संदृष्ट है ॥८॥

त्रस व स्थावर जीव जितने जगत् में उनको सही।
जान या अनजान में मारे-मराए भी नहीं ॥९॥

जीव जीवन-इच्छु सब, चाहे न कोई मरण को।
प्राण-वध को घोर लख, मुनि तजे पापाचरण को ॥१०॥

स्वार्थ या अपरार्थ भय या क्रोधवश होकर कभी।
झूठ बोले न बुलवाए अपर-पीड़क सत्य भी ॥११॥

लोक में सब साधुओं ने झूठ को गर्हित कहा।
प्राणियों को हो अप्रत्यय अतः झूठ तजे यहाँ ॥१२॥

सचेतन अथवा अचेतन स्वल्प अथवा बहुत है।
अयाचित जो दन्त-शोधन मात्र अन्याधिकृत है ॥१३॥

उसे ग्रहण करे न खुद पर से न करवाए सही।
ग्रहण करते हुए को संयत भला समझे नहीं ॥१४॥ युग्म

घृणित-घोर-प्रमाद-घर अब्रह्मचर्य कहा अरे।
लोक में भेदाऽऽयतन-वर्जक मुमुक्षु न आचरे ॥१५॥

अधर्मों का मूल है यह महादोषाऽगार है।
अतः छोड़े मिथुन का संसर्ग जो अनगार है ॥१६॥

बिड़ व सागर-लवण, गुड़, घृत तैल आदिक का सही।
ज्ञात-नन्दनवचन में रत, चाहते संग्रह नहीं ॥१७॥

लोभ का संस्पर्श माना है सभी ने यह सही।
स्वल्प भी यदि संग्रहेच्छक तो न मुनि वह, है गृही ॥१८॥

जो कि वस्त्र, अमत्र, कम्बल, पाद-प्रोंछन वस्तुएँ।
धारते उपभोगते चारित्र-लज्जा के लिए ॥१९॥

उसे त्रायी ज्ञात-सुत ने परिग्रह, न कभी कहा।
कहा मूर्च्छा है परिग्रह, यों महा ऋषि ने अहा ॥२०॥

बुद्ध[1] भी सर्वत्र रक्षा-हित उपधि रखते अरे।
और क्या ? निज देह पर भी वे ममत्व नहीं करे ॥२१॥

नित्य तप मुनि के लिए सब ही प्रबुद्धों ने कहा।
वृत्ति संयम-योग्य है जो एक-भक्त अशन अहा ॥२२॥

सूक्ष्म प्राणी त्रस व स्थावर दीखते निशि में नहीं।
श्रमण विधि-युत तदा कैसे वहाँ चल सकता सही ॥२३॥

सबीजक व जलार्द्र भोजन प्राणियों से पथ भरे।
बचाए दिन में, तदा कैसे निशा में संचरे ॥२४॥

देख करके दोष ऐसे ज्ञात-नन्दन ने कहा।
रात्रि-भोजन नहीं करते सर्वथा मुनिवर महा ॥२५॥

---

१. तीर्थंकर, प्रत्येकबुद्ध जिनकल्पिक मुनि।

काय-मन-वच से न पृथ्वीकाय की हिंसा करे।
त्रिविध करण व योगत्रिक-संयत समाहित संचरे ॥२६॥

भूमि-वध करता हुआ, करता तदाऽऽश्रित-वध सही।
क्योंकि दृश्य-अदृश्य त्रस-स्थावर विविध रहते वहीं ॥२७॥

कुगति-वर्धक दोष इसको जानकर मुनिवर अतः।
उम्र-भर आरम्भ पृथ्वीकाय का छोड़े स्वतः ॥२८॥

काय-मन-वच से नहीं अप्काय की हिंसा करे।
त्रिविध करण व योगत्रिक-संयत, समाहित संचरे ॥२९॥

सलिल-वध करता हुआ, करता तदाश्रित वध सही।
क्योंकि दृश्य-अदृश्य त्रस-स्थावर विविध रहते वहीं ॥३०॥

कुगति-वर्धक दोष इसको जानकर मुनिवर अतः।
उम्र-भर आरम्भ मुनि अप्काय का छोड़े स्वतः ॥३१॥

जात-तेजः अग्नि सुलगाना श्रमण इच्छे नहीं।
दुराश्रय सब ओर से है तीक्ष्ण शस्त्रों में यही ॥३२॥

पूर्व-पश्चिम ऊर्ध्व-विदिशा-अधः दक्षिण में रहे।
और उत्तर दिशा में स्थित प्राणियों को यह दहे ॥३३॥

भूत-घातक अग्नि है, इसमें नहीं संशय अरे।
ताप-उद्योतार्थ वध उसका न मुनि किंचित् करे ॥३४॥

कुगति-वर्धक दोष इसको जानकर मुनिवर अतः।
उम्र-भर आरम्भ तेजस्काय का छोड़े स्वतः ॥३५॥

अनिल के आरम्भ को भी बुद्ध तादृश मानते।
अतः त्रायी वर्जते बहु-पापकारी जानते ॥३६॥

तालवृन्त व पत्र, शाखा, विधूनन से भी नहीं।
हवा करना-कराना मुनि चाहते कब ही नहीं ॥३७॥

वस्त्र, पात्र व पाद-प्रोंछन, कम्बलादि महामना।
यत्न से धारे कि जिससे हो न अनिल-उदीरणा ॥३८॥

कुगति-वर्धक दोष इसको जानकर मुनिवर अतः।
उम्र-भर तक अनिल के आरम्भ को छोड़े स्वतः ॥३९॥

काय-मन-वच से वनस्पति की नहीं हिंसा करे।
त्रिविध करण व योगत्रिक-संयत समाहित संचरे ॥४०॥

हरित-वध करता हुआ, करता तदाऽऽश्रित वध सही।
क्योंकि दृश्य-अदृश्य त्रस-स्थावर विविध रहते वहीं ॥४१॥

कुगति-वर्धक दोष इसको जानकर मुनिवर अतः।
उम्र-भर तक वनस्पति-आरम्भ को छोड़े स्वतः ॥४२॥

काय-मन-वच से नहीं त्रसकाय की हिंसा करे।
त्रिविध करण व योगत्रिक-संयत-समाहित संचरे ॥४३॥

त्रस हनन करता हुआ, करता तदाऽऽश्रित वध सही।
क्योंकि दृश्य-अदृश्य त्रस-स्थावर विविध रहते वहीं ॥४४॥

कुगति-वर्धक दोष इसको जानकर मुनिवर अतः।
तजे सब त्रसकाय का आरम्भ जीवन-भर स्वतः ॥४५॥

अशन आदि पदार्थ चारों जो अकल्प्य यहाँ कहे।
उन्हें तजता हुआ मुनि चारित्र को सम्यग् वहे ॥४६॥

पिण्ड शय्या वस्त्र और अमत्र संयत सर्वदा।
अकल्पिक इच्छे नहीं कल्पिक ग्रहण करता मुदा ॥४७॥

क्रीत औद्देशिक तथा नित्याग्र आहृत ले यहाँ।
प्राणि-वध अनुमोदते वे यों महाऋषि ने कहा ॥४८॥

क्रीतकृत उद्दिष्ट अभिहृत अशन-पानी को अतः।
धर्मजीवी, स्थितात्मा, निर्ग्रन्थ तजते हैं स्वतः ॥४९॥ (युग्म)

कांस्य पात्र व कांस्य में या कुंड मोदों में कृती।
अन्न-जल भोगे अगर तो चरित-भ्रष्ट बने व्रती ॥५०॥

शीतजल आरम्भ फिर धोवन बिखरता है कहीं।
प्राणि-वध होता अतः देखता असंयम है वहीं ॥५१॥

पूर्व-पश्चात् कर्म हो तो नहीं कल्प्य वहाँ कहा।
इसलिए गृहि-पात्र में खाए नहीं मुनिवर महा ॥५२॥

मंच आसंदी, पलंग, सिंहासनों पर जानिए।
बैठना, सोना विवर्जित, आर्यवर मुनि के लिए ॥५३॥

बिना देखे पीढ़ आसंदी निषद्या मंच पर।
न बैठे जो बुद्ध आज्ञा-अधिष्ठित हैं संतवर ॥५४॥

जीव दुष्प्रतिलेख्य हैं गम्भीर छिद्रों में वहाँ।
इसलिए पल्यंक आसंदी विवर्जित हैं यहाँ ॥५५॥

गौचरी-गत जो श्रमण अन्तर-घरों में बैठता।
उसे लगते दोष ये मिथ्यात्व भी है पनपता ॥५६॥

नाश होता ब्रह्म का बिन समय जीवों का हनन।
वनीपक-प्रतिघात होता, हों प्रकुपित गृहस्थ जन ॥५७॥

हो अरक्षित ब्रह्म, स्त्री से भी सशंक बने अपर।
स्थान जो कि कुशील-वर्धक दूर से छोड़े प्रवर ॥५८॥

तीन में से अन्यतर को बैठना कल्पे वहाँ।
जरा से अभिभूत रोगी तपस्वी जो है यहाँ ॥५९॥

रुग्ण या नीरोग मुनि यदि स्नान करना चाहता।
क्रान्त[1] हो आचार, संयम त्यक्त हो उसका तथा ॥६०॥

सूक्ष्म-प्राणी, फटी पाली भूमि में रहते भरे।
विकट-जल[2] से स्नान करता भी उन्हें प्लावित करे ॥६१॥

अतः शीत व उष्ण जल से नहाते न मुनि-प्रवर।
घोर इस अस्नान व्रत को पालते हैं उम्र-भर ॥६२॥

गंध-चूर्ण व कल्क, लोध्र व पद्म-केशर आदि हो।
गात्र-मर्दन के लिए संयत प्रयोग करे नहीं ॥६३॥

केश-नख जिसके प्रवर्धित और मुण्डित नग्न हो।
शान्त-मैथुन को प्रयोजन क्या विभूषा से कहो ॥६४॥

विभूषावर्ती व्रती वह कर्म चिकने बाँधता।
घोर दुस्तर भवोदधि में पड़े तजकर साधुता ॥६५॥

विभूषा-रत चित्त को भी बुद्ध तादृश मानते।
दयामय (त्रायिजन) सेते नहीं अति पापकारी जानते ॥६६॥

अमोहदर्शी, ऋजुगुण-संयम-तप-रत, निज तन कृश करते।
पूर्व-पाप को हरते और न नए पाप वे हैं करते ॥६७॥

नित उपशान्त यशस्वी अमम अकिंचन आत्मिक-विद्यावान।
त्रायी, विमल-शरद-शशिसम, पाता शिव अथवा देव-विमान ॥६८॥

---

१. उल्लंघन (२) अचित्त पानी।

सातवाँ अध्ययन

वाक्यशुद्धि

*जान प्रज्ञावान सम्यग् चार भाषाएँ तथा।
उभय से सीखे विनय[1] पर दो न बोले सर्वथा ॥१॥

सत्य में भी जो अवाच्य व मिश्र फिर मिथ्या कही।
बुद्धजन से अनाचीर्ण उसे सुधी बोले नहीं ॥२॥

असंदिग्ध व अकर्कश निरवद्य जो भाषा कही।
सत्य या व्यवहार सुधि-जन सोचकर बोले सही ॥३॥

जो गिरा संदिग्ध भ्रामक या ध्रुवघ्ना हो अगर।
सत्य या व्यवहार भाषा भी न बोले धीरवर ॥४॥

तदाकार[2] अतथ्यभाषी भो अघों से स्पृष्ट हो।
बोलता जो झूठ उसके लिए क्या कहना अहो ॥५॥

वहाँ जायेंगे कहेंगे कार्य होगा अमुक ही
मैं करूँगा कार्य यह अथवा करेगा यह सही ॥६॥

भविष्यत् या भूत सांप्रत-काल में ऐसी अहो।
सशंकित, निश्चयकरी भाषा तजे जो धीर हो ॥७॥

जो अनागत-भूत-प्रत्युत्पन्न[3]-भाव[4] यहाँ रहे।
यदि न जाने तो वहाँ फिर 'एव मेव'[5] नहीं कहे ॥८॥

जो अनागत-भूत-प्रत्युत्पन्न-अर्थ यहाँ रहे।
हो अगर शंका वहाँ तो 'एव मेव' नहीं कहे ॥९॥

जो अनागत-भूत-प्रत्युत्पन्न-अर्थ यहाँ रहे।
हो अगर निःशंक तो फिर 'एव मेव' वहाँ कहे ॥१०॥

---

१. शुद्ध प्रयोग। २, वाह्य वेष अनुसार स्त्री वेषधारी को स्त्री या पुरुष वेषधारी को पुरुष कहने रूप। ३. वर्तमान काल। ४. पदार्थ। ५. ऐसा ही है।

परुष[1]-भाषा और गुरु-भूतोपघात-करी अहो।
सत्य भी हो तो न बोले क्योंकि पापाऽऽगमन हो ॥११॥

कहे काने को न काना, क्लीव को फिर क्लोव है।
कहे रोगी को न रोगी, चोर को भी चोर है ॥१२॥

उक्त या तत्सम वचन जिससे कि चोट लगे सही।
चरित[2]-दोष-अभिज्ञ, प्रज्ञावान त्यों बोले नहीं ॥१३॥

इस तरह हे होल ! गोलक[3] ! वृषल या फिर स्वान हे।
द्रमक[4] ! दुर्भग[5] ! आदि ऐसे शब्द प्राज्ञ नहीं कहे ॥१४॥

अरी दादी व परदादी ! माँ अरी ! मौसी ! उसे।
हे बुआ ! भानजी ! पुत्री ! या कि पोती नाम से ॥१५॥

हे हले ! भट्टे ! हली ! अन्ने व स्वामिनि ! गोमिनि !
अरी होले व गोले ! वृषले ! न यों बोले गुणी ॥१६॥

नाम या स्त्री-गोत्र से फिर उसे मुनि सम्बोधता।
यथोचित निर्देश कर आलापता संलापता ॥१७॥

पिता ! दादा व परदादा ! भानजा ! मातुल तथा।
पुत्र ! चाचा और पोता यों नहीं संबोधता ॥१८॥

अन्न ! हल हे भट्ट ! स्वामिन् होल गोमिन् गोल रे।
वृषल ! आदिक शब्द से नर को न संबोधित करे ॥१९॥

पुरुष-गोत्र व नाम आदिक से उसे सम्बोधता।
यथोचित निर्देश कर आलापता संलापता ॥२०॥

जहाँ तक पंचेन्द्रियों में स्त्री पुमान् न जानता।
वहाँ तक उनके विषय में जाति कह आलापता ॥२१॥

त्यों मनुज, पशु और पक्षी सरीसृप[6] को देखकर।
स्थूल, तुन्दिल, वध्य, पाक्य न कहे उनको भिक्षुवर ॥२२॥

पुष्ट है परिवृद्ध है संजात, प्रीणित है सही।
महाकायिक है जरूरतवश कहे मुनिवर यही ॥२३॥

---

१. कठोर भाषा। २. आचार भाव के दोषों को जानने वाला। ३. जार पुत्र। ४. कंगाल। ५. हतभागी। ६. सांप आदिक पेट के बल पर चलने वाले।

गाय दुहने योग्य बछड़े दमन करने योग्य हैं।
भार-हल-रथ[1] योग्य है ये यों न बोले प्राज्ञ हैं ॥२४॥

युवक बैल गऊ दुधारू और ये छोटे-बड़े।
बैल धोरी हैं कहे यों मुनि जरूरत जो पड़े ॥२५॥

तथा मुनि उद्यान-पर्वत या वनों में देखकर।
बड़े तरुओं को वहाँ बोले न ऐसे प्राज्ञवर ॥२६॥

महल, स्तम्भ व सदन, तोरण परिघ[2] अर्गल योग्य हैं।
और जलकुंडी व नौका के लिए उपयोग्य हैं ॥२७॥

काष्ठ-पात्री, पीठ हल या मयिक कोल्हू के लिए।
वृक्ष ये उपयुक्त हैं सब नाभि अहरन के लिए ॥२८॥

शयन, आसन, यान अथवा उपाश्रय के योग्य हैं।
भूत-उपघातक गिरा बोले न ऐसी प्राज्ञ हैं ॥२९॥

तथा मुनि उद्यान-पर्वत या वनों में देखकर।
बड़े तरुओं को वहाँ ऐसे कहे मुनि प्राज्ञवर ॥३०॥

जातिमान, सुदीर्घ, वृत्त, लिए हुए विस्तार हैं।
कहे शाखा-प्रशाखा-युत दर्शनीय अपार हैं ॥३१॥

पक्व फल हैं पका खाने योग्य टालक[3] हैं तथा।
तोड़ने या फाँक करने योग्य न कहे सर्वथा ॥३२॥

भार सहने के लिए ये आम्र अति असमर्थ हैं।
भूतरूप[4] व बहुत निर्वर्तित[5] कहे संभूत[6] है ॥३३॥

पक्व या कि अपक्व औषधियाँ व फलियाँ युक्त हैं।
काटने भूनने योग्य न कहे या पृथु[7]-खाद्य है ॥३४॥

रूढ़[8] बहु सम्भूत[9] स्थिर उच्छृत[10] व प्रसूत[11] है तथा।
और गर्भित[12] धान्यकण से सहित है यों बोलता ॥३५॥

---

१. भार वहने योग्य, हल वहने योग्य तथा रथ वहने योग्य हैं। २. नगर-द्वार की आगल को परिघ और गृह-द्वार की आगल को अर्गला कहा जाता है। ३. गुठली-रहित। ४. कोमल। ५. प्रायः निष्पन्न फलवाले हैं। ६. एक साथ उत्पन्न बहुत फलवाले। ७. चिड़वा बनाकर खाने योग्य। ८. अंकुरित। ९. निष्पन्न प्रायः। १०. ऊपर उठाना। ११. भुट्टों से रहित। १२. भुट्टों से सहित।

तथा जमीन जान यों न कहे कि करने योग्य है।
वध्य है यह चौर सरिता घाट अधिक सुरम्य हैं ॥३६॥

कहे जमीनवार को जमीन धनार्थी स्तेन[1] को।
बहुत सम है घाट सरिता के कहे यों वचन को ॥३७॥

तथा नदियाँ पूर्ण ये तरणीय भुज-बल से सही।
नाव से तरणीय प्राणी[2] पेय यों बोले नहीं ॥३८॥

पूर्ण भृत व अगाध, अन्य-प्रवाह से जल बढ़ रहा।
हैं बहुत विस्तारवाली यों न बोले मुनि महा ॥३९॥

पापकारी कार्य जो अन्यार्थ कृत क्रियमाण है।
लख उन्हें सावद्य भाषा न बोले गुणवान हैं ॥४०॥

सुष्टु पक्व,[3] सुच्छिन्न,[4] कृत,[5] हृत,[6] मृत,[7] सुनिष्ठित,[8] लष्ट[9] हैं।
ये सभी सावद्य भाषाएं तजे मुनि शिष्ट है ॥४१॥

पक्व,[10] छिन्न[11] फिर लष्ट गाढ़ को क्रमशः यों बोले सुविचार।
यत्न-पक्व यह यत्न-छिन्न यह यत्न-लष्ट है गाढ़ प्रहार ॥४२॥

*वस्तु सर्वोत्कृष्ट यह व पराघ्यं, अतुल, अनन्यतर।
अविक्रेय, अवाच्य और अचिन्त्य न कहे मान्यवर ॥४३॥

सब कहूँगा, पूर्ण है यह, यों न बोले मुनि कहीं।
किन्तु पूर्वापर सभी कुछ सोचकर बोले सही ॥४४॥

सुष्टु क्रीत विक्रीत अथवा क्रेय यह अक्रेय है।
माल यह लो इसे बेचो वचन यह अश्रेय है ॥४५॥

अल्प-अर्घ्य-महार्घ्य के क्रय-विक्रयों में कार्यवश।
बोलना यदि पड़े तो अनवद्य मुनि बोले सरस ॥४६॥

---

१. चोर। २. इसका पानी प्राणी तट पर बैठे पी सकते हैं। ३. अच्छा पकाया। ४. अच्छा छेदा। ५. अच्छा किया। ६. अच्छा हरण किया शाक की तिक्तता आदि। ७. अच्छा मरा है दाल या सत्तू में घी आदि। ८. अच्छा रस निष्पन्न हुआ है। ९. बहुत ही इष्ट है चावल आदि। १०. प्रारंभ करके पकाता है। ११. प्रयत्न पूर्वक कटा हुआ है।

बैठ, आ, कर, सो, ठहर, जा, असंयत जन को तथा।
धीर प्रज्ञावान संयत यों न बोले सर्वथा ॥४७॥

हैं असाधक बहुत पर वे साधु हैं कहला रहे।
असाधक को साधु न कहे साधु को साधक कहे ॥४८॥

ज्ञान-दर्शन युक्त संयम-तपोरत संतत रहे।
इन गुणों से युक्त जो मुनि उसे ही संयत कहे ॥४९॥

देव-नर-पशु-पक्षियों में रण परस्पर हों कहीं।
अमुक को जय हो अमुक की हार यों बोले नहीं ॥५०॥

वायु, वर्षा, शीत, उष्ण, सुकाल, क्षेम व सुख तथा।
कदा होंगे या न हों ऐसे न बोले सर्वथा ॥५१॥

†उसी भाँति नभ, मेघ, मनुज को देव देववच कहें नहीं।
वर्षोन्मुख, उन्नत, पयोद या वृष्ट-बलाहक कहे सही ॥५२॥

*अन्तरिक्ष कहे उसे गुह्यानुचरित कहे व्रती।
देखकर संपन्न नर को ऋद्धिमान कहें यती ॥५३॥

†जो पापानुमोदिनी, अवधारिणी व पर उपघात करे।
क्रोध, लोभ, भय और हास्यवश भी ऐसी न गिरा उचरे ॥५४॥

वचन-शुद्धि का कर विवेक जो दूषित-वाणी तज देता।
नित निर्दोष विचारित कहता वह सुजनों में यश लेता ॥५५॥

भाषा के गुण-दोष जान नित दूषित-गिरा तजे मुनिवर।
षट् काया-प्रतिपाल, चरित-रत बोले मधुर और हितकर ॥५६॥

विचार भाषी, समाहितेन्द्रिय, विगतकषाय, तटस्थ तथा
पूर्वार्जित-मलहर, लोक-द्वय का वह आराधन करता ॥५७॥

आठवाँ अध्ययन

आचार-प्रणिधि

प्रणिधि पा, आचार की जो भिक्षु का कर्त्तव्य है।
कहूँगा क्रमशः तुम्हें अब सुनो तुम वह श्रव्य है ॥१॥

भूमि, जल, शिखि, सबीजक तृणतरु, पवन, त्रस प्राण है।
ये सभी हैं जीव ऐसा वीर का फरमान है ॥२॥

अहिंसक व्यवहार होना चाहिए उनके प्रति।
मन वचन तन से सदा संयत तभी होता यति ॥३॥

भींत, भू ढेले शिला को कुरेदे भेदे नहीं।
त्रिविध करण व योग से, संयत समाहित जन कहीं ॥४॥

शुद्ध[1]-पृथ्वी स-रज[2] आसन पर कभी बैठे नहीं।
ले अनुज्ञा, पूंज बैठे हो अचित्त जहाँ सही ॥५॥

शीत-जल, ओले व हिम बारिश-सलिल सेवे नहीं।
तप्त-प्रासुक-उष्ण पानी ही ग्रहे संयत सही ॥६॥

उदक-आर्द्र-शरीर को निज, नहीं मलता पोंछता।
तथाभूत उसे समझकर नहीं मुनिवर स्पर्शता ॥७॥

अग्नि या अंगार, ज्वाला, ज्वलित काष्ठादिक सही।
करे उत्सेचन[3] व घट्टन[4] और निर्वापन[5] नहीं ॥८॥

तालवृन्त व पत्र-शाखा-व्यजन आदिक से मुनि।
हवा न करे स्वतन पर या बाह्य पुद्गल पर गुणी ॥९॥

वृक्ष, तृण, फल, मूल आदिक किसी को छेदे नहीं।
विविध बीज, सचित्त को मन से कभी इच्छे नहीं ॥१०॥

---

१. सचित्त भूमि। २. सचित्त रज सहित आसन। ३. प्रदीप्त। ४. स्पर्श। ५. बुझाना।

गहन-वन या बीज, हरित व उदक[1] या उत्तिंग[2] पर।
पनक[3] आदिक पर नहीं ठहरे कभी भी भिक्षुवर ॥११॥

मन-वचन-तन से नहीं त्रस जीव की हिंसा करे।
देख जग-वैचित्र्य नित सब-भूत-उपरत संचरे ॥१२॥

दया-अधिकारी बना संयत कि जिनको जानकर।
आठ सूक्ष्मों को निरख शयनासनादि करे प्रवर ॥१३॥

सूक्ष्म आठों कौन से ? यों पूछता संयत यदा।
कहे मेधावी विचक्षण गुरु उसे ये हैं तदा ॥१४॥

स्नेह, पुष्प व प्राण फिर उत्तिंग[4] चौथा है कहा।
पनक, बीज व हरित अष्टम सूक्ष्म अण्डा है रहा ॥१५॥

जानकर इनको स्वयं सब तरह से संयत तदा।
अप्रमत्त, समाहितेन्द्रिय करे यतना सर्वदा ॥१६॥

करे प्रतिलेखन सदा विधियुक्त कम्बल पात्र की।
संस्तरण, उच्चार-भू, शय्या व आसन मात्र की ॥१७॥

प्रस्रवण, उच्चार, श्लेष्मा, सिंघाण[5], स्वेदादिक कहीं।
देख प्रासुक भूमि को फिर यत्न से परठे वहीं ॥१८॥

अशन-पानी के लिए गृहि-सदन में जाए यदा।
यत्न से ठहरे, कहे मित, रूप-मुग्ध न हो कदा ॥१९॥

बहुत सुनता कान से मुनि आँख से बहु देखता।
पर न सब श्रुत दृष्ट मुनि को है बताना कल्पता ॥२०॥

दृष्ट, श्रुत यदि घातकर हो तो नहीं बोले अरे।
किसी भी स्थिति में नहीं गृहि-योग साधु समाचरे ॥२१॥

सरस नीरस अशन को अच्छा-बुरा बोले नहीं।
तथा पृष्टाऽऽपृष्ट[6] लाभाऽलाभ को खोले नहीं ॥२२॥

---

१. अनन्तकायिक वनस्पति। २. सर्प के आकारवाली वनस्पति। ३. फूलन या वनस्पति विशेष। ४. जीवों का आश्रय स्थान। ५. नाक की मैल। ६. पूछने पर या बिना पूछे।

अशन-गृद्ध न हो, मुखर भी उंछ[1] भोजन ले सही।
क्रीत अभिहृत व उद्दिष्ट सचित्त को भोगे नहीं ॥२३॥

करे अणु-भर भी न संचय मुधा-जीवी जो दमी।
असंबद्ध व जन पदाऽऽश्रित, रहे संतत संयमी ॥२४॥

सुसंतुष्ट व रूक्ष-वृत्तिक, अल्पभुग् अल्पेच्छु है।
जिन वचन सुन किसी पर भी क्रुद्ध न बने भिक्षु है ॥२५॥

कर्ण-सुखकर शब्द सुनकर प्रेम भाव करे नहीं।
स्पर्श दारुण तथा कर्कश सहे काया से सही ॥२६॥

विषम-शय्या, क्षुत्, तृषा, शीतोष्ण, अरित व भय कहे।
देह दुःख महा फलद है, अव्यथित बन सब सहे ॥२७॥

सूर्य छिपने पर पुनः जब तक न वह होता उदय।
अशन आदिक सभी मन से भी न इच्छे गुण-निलय ॥२८॥

अल्प-भाषी, मिताशन, अचपल न अविवादी शमी।
उदर[2]-दान्त बने न निन्दे स्वल्प मिलने पर यमी ॥२९॥

अन्य का अपमान न करे आत्म-श्लाघा भी नहीं।
जाति या श्रुत-लाभ-तप-मति पर न गर्व करे सही ॥३०॥

दोष-सेवन जान या अनजान में करके अरे।
शीघ्र संकोचे स्वयं को और न पुनः आचरे ॥३१॥

असंसक्त व शुचि सरल-आशय जितेन्द्रिय मुनि कहीं।
दोष सेवन कर उसे गोपे, नकारे भी नहीं ॥३२॥

महात्मा-आचार्य के वच को अमोघ[3] सदा करे।
वचन से करके ग्रहण फिर कार्य संपादन करे ॥३३॥

सिद्धि-पथ का ज्ञानकर जीवन अशाश्वत जानकर।
भोग से विनिवृत्त हो, स्वायुष्य परिमित मानकर ॥३४॥

---

१. ज्ञात-अज्ञात कुल से थोड़ा-थोड़ा लेने की वृत्ति। २. अलोलुप। ३. सफल।

(स्थाम[1], बल, श्रद्धा तथा आरोग्य अपना देखकर।
लगाए तप में स्वयं को क्षेत्र, सुसमय जानकर)

†जरा न पीड़ित करे जहाँ तक व्याधि न जब तक बढ़े सुजान।
क्षीण न इन्द्रियगण हों तब तक करे धर्म आचरण महान् ।।३५।।

*पापवर्धक क्रोध मान व लोभ माया हैं महा।
आत्म-हित इच्छुक तजे इन चार दोषों को यहाँ ।।३६।।

प्रीति-नाशक क्रोध है अभिमान यह विनयघ्न है।
मित्रता-नाशक कपट है लोभ सर्व-गुणघ्न है ।।३७।।

क्रोध को जीते शमन से मान मृदुता-पोष से।
सरलता से दम्भ जीते लोभ को संतोष से ।।३८।।

†क्रोध मानवश किए नहीं फिर कपट-लोभ बढ़ते रहते।
चारों कृष्ण[2] कषाय, पुनर्भव तरु की जड़ सिंचन करते ।।३९।।

रात्निक-जन[3] का विनय करे, ध्रुव शील कभी छोड़े न यमी।
गुप्तेन्द्रिय हो कूर्म भांति तप संयम में हो पराक्रमी ।।४०।।

*न दे आदर नींद को अति अट्टहास्य करे नहीं।
तजे मैथुन की कथा स्वाध्याय-रत हो नित्य ही ।।४१।।

हो परायण श्रमणता में योग संयोजित करे।
जो श्रमणता-रत रहे वह अनुत्तर सुख को वरे ।।४२।।

भक्ति बहुश्रुत की सुगतिदा इह परत्रहितावहा।
तथा पृच्छा करे जिससे अर्थ-निर्णय है कहा ।।४३।।

जितेन्द्रिय आलीन, निज पग-हाथ-तन संकोच कर।
पास[4] बैठे सुगुरु के होकर सुगुप्त श्रमण प्रवर ।।४४।।

सुगुरु के आगे व पीछे बराबर बैठे नहीं।
ऊरु से ऊरु को सटा उनके निकट बैठे नहीं ।।४५।।

---

१. शारीरिक बल। २. संक्लिष्ट। ३. बड़े साधु। ४. न अति दूर न अति निकट।

बिना पूछे न बोले या बोलते के बीच भी।
पृष्ठमांस[1] तजे तथा माया-मृषा छोड़े सभी ॥४६॥

अपर नर झट कुपित हो, अप्रीति हो जिससे तथा।
अहितकर ऐसी गिरा बोले न मुख से सर्वथा ॥४७॥

†आत्मवान मुनि असंदिग्ध, मित, दृष्ट, व्यक्त, प्रतिपूर्ण, वचन।
परिचित, वाचालतारहित भयरहित गिरा बोले शुभ मन ॥४८॥

*दृष्टिवादाऽभिज्ञ मुनि, आचार-प्रज्ञप्तिधर भी।
वचन में हों स्खलिता तो उपहास मुनि न करे कभी ॥४६॥

मन्त्र, स्वप्न, निमित्त या नक्षत्र, औषधि, योग को।
प्राण-वध के स्थान लख मुनि बताए न गृहस्थ को ॥५०॥

सदन जो उच्चार भू संपन्न स्त्री-पशु रहित हो।
ग्रहे शयनासन तथाविध अन्यहित जो विहित हो ॥५१॥

नारिजन से कथादिक एकांत में न करे कहीं।
गृही-संस्तव तजे मुनि-संस्तव सदैव करे सही ॥५२॥

सदा कुर्कट-पोत को मार्जार से भय है यथा।
नारि-तन से ब्रह्मचारी को वही भय है तथा ॥५३॥

चित्रिता व अलंकृता स्त्री को न देखे ध्यान धर।
दृष्टि को झट खींच ले जैसे कि रवि को देखकर ॥५४॥

हाथ पग फिर कान नाक-विहीन नारी हो कदा।
शतायुष्या-संग को भी तजे ब्रह्म व्रती सदा ॥५५॥

विभषा, संसर्ग स्त्री का सरस भोजन जान लो।
आत्म-शोधक के लिए ये ताल-पुट-विष मान लो ॥५६॥

चारु-लपित, कटाक्ष, अंगोपाङ्ग या संस्थान हैं।
स्त्रियों के देखे न ये सब काम-वर्धक स्थान हैं ॥५७॥

---

१. चुगली।

प्रेम न करे इष्ट विषयों में कभी भी संतवर।
परिणमन उन पुद्गलों का अशाश्वत पहचान कर ॥५८॥

यथावत् परिणमन उन सब पुद्गलों का जानकर।
लालसा से मुक्त शान्तात्मा यहाँ विचरे प्रवर ॥५९॥

जिस सुश्रद्धा से तजा घर ली अनुत्तर साधना।
करे गुरु-सम्मत गुणों की यथावत् आराधना ॥६०॥

नित तप-संयम-योगयुक्त स्वाध्याय रक्त जो स्थिरतम है।
बल[1] से घिरा सशस्त्र सुभट ज्यों वह निज-पर रक्षा-क्षम है ॥६१॥

सत्स्वाध्याय-ध्यान-तप-रत, निष्पाप भाव, त्रायी का नित।
पूर्वाजित मल होता नष्ट, स्वर्ण-मल ज्यों शिखि से तापित ॥६२॥

जो यों दुःख-सहिष्णु, जितेन्द्रिय, श्रुतरत, अमम, अकिंचन है।
वह निरभ्र विधु सम शोभित होता अपगत-दुष्कृत-घन है ॥६३॥

१. सेना।

नवाँ अध्ययन

विनय-समाधि

(पहला उद्देशक)

मान-क्रोध-माया-प्रमादवश सीखे गुरु से जो न विनय।
होता वही अभूति[1] हेतु ज्यों वेणु[2] वेण-फल से हो क्षय ॥१॥

मन्द, बाल अल्पश्रुत जान सुगुरु उपदेश वितथ दिल धर।
गुरु की अवगणना जो करते वे आशातन करते नर ॥२॥

कई प्रकृति से मंद वृद्ध हों, बालक श्रुतमति से गहरे।
पर उन आचारी गुणियों की निन्दा शिखिवत् भस्म करे ॥३॥

ज्यों अहि को लघु समझ छेड़ना बड़ा अहितकर होता है।
त्यों गुरु-निन्दक मन्द जाति-पथ[3] में खाता फिर गोता है ॥४॥

आशीविष हो रुष्ट, मृत्यु से बढ़कर क्या कर सकता है ?
पर हों सुगुरु रुष्ट तो बोधि तथा न मोक्ष वर सकता है ॥५॥

ज्यों प्रज्वलित वह्नि पर चलना, या आशीविष का कोपन।
जीवनार्थ विष-भक्षण त्यों ही समझो गुरु की आशातन ॥६॥

पावक दहन करे न कदाचित्, अहि भी कुपित नहीं खाए।
विष से मृत्यु न हो फिर भी गुरु-निन्दक मोक्ष नहीं पाए ॥७॥

ज्यों सिर से गिरि का भेदन या सुप्त सिंह का प्रतिबोधन।
शक्ति[4] अग्र पर चोट मारना, त्यों सद्गुरु की आशातन ॥८॥

सिर से हो गिरि-भेद कदाचित् प्रकुपित सिंह नहीं खाए।
शक्ति-अग्र न करे क्षत फिर भी गुरु-निन्दक मोक्ष न पाए ॥९॥

---

१. विनाश का कारण। २. बांस। ३. संसार। ४. भाले की नोक।

अप्रसन्न हों गुरु जिससे, फिर मिले न बोधि व मोक्ष उसे ।
इसीलिए निर्बाध सुखेच्छुक सुगुरु-कृपा-अभिमुख निवसे ।।१०।।

आहुति-मंत्र पदाभिषिक्त शिखि को ज्यों आहिताग्नि[1] नमता ।
त्यों अनन्तज्ञानी भी गुरु-सेवा में नित्य रहे रमता ।।११।।

सीखे जिनसे धर्मपदादिक, सुविनय उनका सदा करे ।
नतमस्तक कर जोड़ वचन का या मन से सत्कार करे ।।१२।।

लज्जा, दया, शील, संयम, कल्याण-इच्छु के शुद्धि-स्थान ।
इनकी सीख मुझे देते नित अतः सुगुरु हैं पूज्य महान ।।१३।।

ज्यों निशान्त में दीप्त-सूर्य करता सारा भारत भासित ।
हरि[2] ज्यों सुरगण में त्यों गुरु श्रुत शील बुद्धि से शोभान्वित ।।१४।।

शरद पूर्णिमा-सेवित विधु नक्षत्र तारकों से परिवृत ।
अभ्रमुक्त निर्मल नभ में शोभित त्यों गुरु मुनिजन-संवृत ।।१५।।

शील समाधियोग श्रुत-बुद्धि-महाकर[3] महा-ऐषी[4] आचार्य ।
तुष्ट करे आराधे उनको धर्मी शिवकामी मुनि आर्य ।।१६।।

सुन सद्-भाषित मेधावी मुनि अप्रमत्त गुरु-सेव करे ।
गुण अनेक आराध अनुत्तर सिद्धि वधू को यहाँ वरे ।।१७।।

---

१. अग्निहोत्री ब्राह्मण । २. इन्द्र । ३. महान गुणों की खान । ४. महान के खोजी ।

नवाँ अध्ययन

विनय-समाधि

(दूसरा उद्देशक)

[1]वृक्ष मूल से स्कन्ध, स्कन्ध से शाखा का होता उद्भव ।
तभी प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल, रस क्रमशः मिलता नव-नव ॥१॥

*धर्म का त्यों मूल विनय व मोक्ष फल अन्तिम रहा ।
श्लाघ्य, श्रुत, यश, सर्व जिससे प्राप्त करता मुनि महा ॥२॥

चंड, मृग, मानी, कुवादी और कपटी, शठ तथा ।
अविनयी भव में भटकता काष्ठ स्रोतोगत यथा ॥३॥

विनयहित सदुपाय-प्रेरित जो सुगरु से कोपता ।
दिव्य श्री आती हुई को दण्ड से वह रोकता ॥४॥

ज्यों अविनयी औपवाह्य[1] हयादि ढोते भार हैं ।
दुखित सेवा काल में वे दीखते हर बार हैं ॥५॥

औपवाह्य विनीत हय गज का सुखी संसार है ।
ऋद्धि प्राप्त, महा यशस्वी दीखते हर बार है ॥६॥

त्यों सदा अविनीत नर-नारी यहाँ जो लोक में ।
विकल-इन्द्रिय और दुर्बल दीखते हैं शोक में ॥७॥

दंड शस्त्रों से प्रताड़ित. तिरस्कृत कटु वचन से ।
करुण परवश क्षुत्-तृषाऽऽकुल दीखते दुख में फँसे ॥८॥

सुविनयी नर-नारियों का त्यों सुखी संसार है ।
ऋद्धि-प्राप्त महायशस्वी दीखते हर बार हैं ॥९॥

इस तरह अविनीत जो सुर, यक्ष गुह्यक लोक में ।
दुखित सेवा काल में वे दीखते हैं शोक में ॥१०॥

---

१. राजाओं के सवारी करने योग्य हाथी-घोड़े ।

सुविनयी सुर, असुर, गुह्यक का सुखी संसार है।
ऋद्धि-प्राप्त महायशस्वी दीखते हर बार हैं ॥११॥

उपाध्याय व सुगुरु-सेवा वचन में जो रक्त हैं।
सदा शिक्षा बढ़े उनकी यथा तरु जल-सिक्त है ॥१२॥

स्व-पर के उपभोग-हित, इस लोक में जो हर्ष से।
सीखते नैपुण्य शिल्पादिक गृही उत्कर्ष से ॥१३॥

उसी कारण घोर वध, बन्धन व दारुण ताड़ना।
ललित-इन्द्रिय सभी शिक्षण-समय सहते शुभमना ॥१४॥

उन कलाओं के लिए वे पूजते गुरु को सदा।
तुष्ट आज्ञा पालते सत्कार कर नमते मुदा ॥१५॥

क्या अधिक यदि शिष्य गुरु के वचन को माने सही।
श्रुतपरायण मोक्ष-इच्छुक गुरु वचन लाँघे नहीं ॥१६॥

स्थान शय्याऽऽसन करे गुरुदेव से नीचे सदा।
चले अनुपद हो कृताञ्जलि करे पद-वन्दन मुदा ॥१७॥

सुगुरु का तन या उपधि से स्पर्श हो तो नाथ हे!
खमे मुझ अपराध फिर न कभी करूँगा यों कहे ॥१८॥

बैल दुर्गत कशा-प्रेरित यथा रथ वहता अरे।
कार्य त्यों दुर्बुद्धि बारंबार कहने पर करे ॥१९॥

(बुलाते आलापते बठा हुआ न सुने गिरा।
तज निजासन धीर उत्तर दे उन्हें सुविनय भरा।)

हेतुओं से काल इच्छा, जान फिर उपचार वर।
तदनुकूल उपाय से गुरु-इष्ट कार्य करे प्रवर ॥२०॥

विपद है अविनीत के सुविनीत के सम्पत्ति है।
ज्ञात दोनों बात जिसको उसे शिक्षा-प्राप्ति है ॥२१॥

‡धी-श्री-गर्वी, चण्ड, साहसी[1] पिशुन, हीन-प्रेषण[2] जो हो ।
विनय-अकोविद असंविभागी धर्म-अज्ञ को मोक्ष न हो ॥२२।

जो गीतार्थ व विनय-कुशल फिर गुरु निर्देशों पर चलते ।
दुस्तर भवौघ तरते कर्म खपा, वे उत्तम गति वरते ॥२३॥

१. बिना सोचे-समझे कार्य करनेवाला । २. गुरु की आज्ञा का यथासमय पालन करनेवाला ।

नवाँ अध्ययन

विनय-समाधि

(तीसरा उद्देशक)

आहिताग्नि ज्यों सिखि की त्यों गुरु सेवा सजग करे नित ही।
आलोकित इंगित लख गुरु मन आराधे जो पूज्य वही ॥१॥

आचारार्थं विनय शुश्रूषा करे सुगुरु वच ग्रहे सही।
यथोपदिष्ट कार्यंकारी आशातन न करे पूज्य वही ॥२॥

जो रात्निक पर्याय जेष्ठ-लघु का भी विनय करे ध्रुव ही।
नम्र, सत्यवादी, गुरुसेवी आज्ञाकर हो पूज्य वही ॥३॥

यापनार्थं[1] अज्ञात, उञ्छ समुदानिक विशुद्ध अशन ग्रही।
जो कि अलाभ-लाभ पर खेद-प्रशंसा न करे पूज्य वही ॥४॥

भक्त-पान शय्याशन संस्तर देते हों अतिमात्र गृही।
फिर भी जो अल्पेच्छु तोष-रत आत्म-तुष्ट हो पूज्य वही ॥५॥

धन आशा से नर सह लेता लोह-बाण सोत्साह सही।
हो निरपेक्ष सहे वाणी के कांटों को जो पूज्य वही ॥६॥

शल्य अयोमय स्वल्प काल पीड़क हैं और सुउद्धर हैं।
(पर) कटु वच कंटक दुर्धर वैर बढ़ाते महा भयंकर हैं ॥७॥

दौर्मनस्य करता दुर्वचनों का आघात कर्णगत ही।
वीराऽग्रणी, जितेन्द्रिय धर्म मानकर सहता पूज्य वही ॥८॥

पीछे निन्दा करे न सम्मुख प्रत्यनीक वच कहे नहीं।
निश्चय या अप्रियकारी भाषा न कहे जो पूज्य वही ॥९॥

अकुहक[2] और अलोलुप निच्छल अपिशुन अदीनवृत्ति कही।
आत्म-प्रशंसा करे न करवाए अकुतूहल पूज्य वही ॥१०॥

---

१. जो जीवन-यापन के लिये अपना परिचय न दे।
२. इन्द्रजाल आदि के चमत्कार प्रदर्शित नहीं करनेवाला।

गुण से साधु, असाधु अगुण से ले मुनि गुण तज अवगुण ही।
जान आत्म से आत्मा को सम राग-द्वेष, हो पज्य वही ॥११॥

बाल वृद्ध स्त्री पुरुष साधु या गृहि निन्दा न करे कब ही।
क्रोध मान को जो तजता है होता जग में पूज्य वही ॥१२॥

तात सुता को त्यों मानित गुरु दे शिष्यों को मान सही।
मान्य जितेन्द्रिय तप ऋत-रत का मान करे जो वही ॥१३॥

गुणसागर गुरु सदुपदेश सुनकर मेधावी प्रतिपल ही।
पंच रक्त व त्रिगुप्त कषायहीन हो विचरे पूज्य वही ॥१४॥

जिनमत निपुण व विनय-कुशल सेवा गुरु की कर सतत प्रवर।
पूर्व रजोमल क्षय कर भास्वर अतुल सुगति पाता मुनिवर ॥१५॥

नवाँ अध्ययन

विनय समाधि

(चतुर्थ उद्देशक)

सुना आयुष्मन् यहां मैंने सही भगवान से।
चार विनय-समाधि पद आख्यात स्थविर महान से ॥१॥

कौन से वे चार विनय-समाधि सुस्थानक अहो।
जो स्थविर भगवान से प्रज्ञप्त हैं मुझसे कहो ॥२॥

चार विनय-समाधि पद ये कहे हैं भगवान ने।
विनय, श्रुत, तप और फिर आचार स्थविर महान ने ॥३॥

जो जितेन्द्रिय विनयश्रुत तप और फिर आचार में।
स्वयं को स्थापित करे पंडित वही संसार में ॥४॥

चतुर्धा होती विनय सुसमाधि निश्चित तद्यथा।
सुगुरु-शासन श्रवण इच्छुक सम्यगाज्ञा पालता ॥५॥

वेद आराधे तथा अभिमान मुनि न करे कहीं।
यही चौथा सुपद है फिर श्लोक भी यह है यहीं ॥६॥

†हित शिक्षा सुनना इच्छे फिर ग्रहे तथा आचारण करे।
विनय कुशल हूं मैं यों आत्मार्थी न कभी अभिमान करे ॥७॥

*चतुर्विध है श्रुत समाधि कही स्थविर ने तद्यथा।
पठन से सद्ज्ञान होगा अतः श्रुत को सीखता ॥८॥

चित्त की एकाग्रता सुखदायिनी होगी मुदा।
धर्म स्थित निज को करूँगा मान यों सीखे सदा ॥९॥

अपर को भी स्थित करूँगा सीखता यों जानकर।
यही चौथा पद यहाँ है श्लोक भी है श्रेष्ठतर ॥१०॥

श्रुत पठन से ज्ञान फिर एकाग्र मन होता प्रवर।
स्थित व स्थापन करे श्रुत रत हो श्रुतों को सीखकर ॥११॥

चतुर्विध है तप-समाधि कही स्थविर ने तद्यथा।
नहीं तप इहलोक या परलोक हित करता तथा ॥१२॥

कीर्तिवर्ण व शब्द श्लाघा अर्थ तप न करे मुनि।
निर्जरा हित तप करे अन्यार्थ तजकर सद्गुणी ॥१३॥

यही अन्तिम तूर्य पद है श्लोक भी इस विषय का।
सुनो मुझसे है यहाँ इस भाँति विरचित स्थविर का ॥१४॥

†नाना गुण तप-रक्त निराशक व निर्जरार्थी वह होता।
तप से पूर्व पाप हरकर फिर तप-समाधि युत वह होता ॥१५॥

*चतुर्धा आचार की सुसमाधि निश्चय तद्यथा।
नहीं अत्र-परत्र-हित आचार मुनिवर पालता ॥१६॥

कीर्ति वर्ण व शब्द श्लाघा हित न पाले चरित को।
सिवा आर्हत-हेतु के पाले नहीं आचार को ॥१७॥

यही अन्तिम तूर्य पद है श्लोक भी इस विषय का।
सुनो मुझसे है यहाँ इस भाँति विरचित स्थविर का ॥१८॥

†जिन वच रत अविवादी जो परिपूर्ण मोक्ष इच्छुक उत्कट।
वह आचार-समाधि सुसंवृत दान्त मोक्ष करता सुनिकट ॥१९॥

चार समाधि-स्वरूप समझ सुसमाहितात्म सुविशुद्ध महान।
निज हित सुविपुल हित सुखकारी मोक्ष प्राप्त करता अम्लान ॥२०॥

गति चतुष्क को छोड़ सर्वथा जन्म-मरण से मुक्त बने।
शाश्वत सिद्ध बने व महर्धिक देव स्वल्प रजयुक्त बने ॥२१॥

दशवाँ अध्ययन

भिक्षु

जिन-शिक्षा से हो दीक्षित जिन-प्रवचन में स्थिर-चित्त सही।
स्त्री वशवर्ती हो न वान्त सुख फिर न ग्रहे जो भिक्षु वही ।।१।।

भ खोदे न खुदाए, न पिए न पिलाए शीतोदक ही।
निशित शस्त्र सम पावक न जलाए जलवाए भिक्षु वही ।।२।।

हवा करे न कराए हरित कटाए काटे स्वयं नहीं।
बीज विवर्जित करे न भोगे जो सचित्त को भिक्षु वही ।।३।।

पृथ्वी तृण काष्ठाश्रित स्थावर-त्रस वध होता निश्चय ही।
अतः पचन-पाचन, औद्देशिक अशन तजे जो भिक्षु वही ।।४।।

रोचित ज्ञात-पुत्र का माने षट् काया को निज सम ही।
पंच महाव्रत पाले पंचाश्रव[1] रोके जो भिक्षु वही ।।५।।

चार कषाय तजे ध्रुव योगी बुद्ध वचन में संतत ही।
स्वर्ण रजत से रहित अधन गृहि-योग तजे जो भिक्षु वही ।।६।।

सम्यग्दृष्टि, अमूढ़, ज्ञान तप संयम में श्रद्धालु सही।
तप से हरे पूर्व अघ मन वच तन संवृत जो भिक्षु वही ।।७।।

विविध अशन-पानक त्यों खाद्य-स्वाद्य को कर संप्राप्त।
कल, परसों हित उसे न संचित करे-कराए भिक्षु वही ।।८।।

विविध अशन-पानक त्यों खाद्य-स्वाद्य को कर संप्राप्त कहीं।
साधर्मिक सह खाए फिर स्वाध्याय रक्त हो भिक्षु वही ।।९।।

विग्रहकारी कथा तजे कोपेन प्रशान्त जितेन्द्रिय ही।
संयम में ध्रुव-योग अविहेठक[2] व अनाकुल भिक्षु वही ।।१०।।

जो सहता आक्रोश प्रहार तर्जना इन्द्रिय-कंटक[3] ही।
भीमशब्द-युत अट्टहास सहता सुख-दुख सम भिक्षु वही ।।११।।

---

१. स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत इन्द्रिय। २. जो दूसरों को तिरस्कृत नहीं करता।
३. अप्रिय शब्दादि।

पडिमा स्वीकृत कर श्मशान में भीम दृश्य लख डरे नहीं।
विविध सुगुण तप रक्त रहे तन ममता न करे भिक्षु वही ॥१२॥

'हताऽऽक्रुट[1] लूसित[2] असकृत्[4] व्युत्सृष्ट त्यक्त-तन अविचल ही।
पृथ्वी सम सहता व निदान कुतूहल तजता भिक्षु वही ॥१३॥

तन के परिषह जीत उबारे जाति पंथ से स्वात्म सही।
जन्म-मरण को महा भयद लख संयम तप रत भिक्षु वही ॥१४॥

हस्त-पाद-वच इन्द्रिय-संयत आध्यात्मिकता में रत ही।
समाहितात्मा सूत्र-अर्थ सम्यग् जाने जो भिक्षु वही ॥१५॥

उपधि-अमूर्च्छित, गृद्धिहीन, अज्ञात, उञ्छ, निर्दोष सही।
क्रय-विक्रय-संचय-विरक्त सब संग तजे जो भिक्षु वही ॥१६॥

रस अगृद्ध अलोल उञ्छचारी, जीवन कांक्षा न कहीं।
तजे ऋद्धि सत्कार प्रतिष्ठा स्थिर निश्छल जो भिक्षु वही ॥१७॥

यह कुशील यों कहे न पर को कुपित बने त्यों कहे नहीं।
पुण्य पाप प्रत्येक जान गर्वी न बने जो भिक्षु वही ॥१८॥

नहीं जाति-मद नहीं रूप-मद लाभ व श्रुत-मद जिसे नहीं।
सभी मदों को तजकर रहता धर्म ध्यान रत भिक्षु वही ॥१९॥

करे प्रवेदित आर्य मार्ग धर्मस्थ स्व-पर को करे सही।
कुशील लिंग व हास्य कुहक छोड़े दीक्षित हो भिक्षु वही ॥२०॥

अशुचि अशाश्वत देहवास का आतम-हितार्थी त्याग करे।
जन्म-मरण बन्धन को काट, अपुनरागम-गति भिक्षु वरे ॥२१॥

---

१. लकड़ी आदि से पीटे जाने पर। २. कठोर वचनों से आक्षेप किए जाने पर।
३. शस्त्र आदि से छेदन-भेदन किए जाने पर। ४. बार-बार।

प्रथम चूलिका

रति-वाक्या

प्रव्रज्या के बाद आ पड़े दुख असह्य हे शिष्य ! कदा।
संयम-विचलित मन हो जाए चाहो बनना गृही यदा ॥१॥

चरित्र-त्याग से पहले सोचो सम्यक्तया अठारह स्थान।
जो प्रेरक होते ह्यरश्मि गजांऽकुश नौ-पतवार[1] समान ॥२॥

हे आत्मन् ! इस दुषम काल में जीवन अधिक कठिनतर है।
तुच्छ क्षणिक ये काम-भोग हैं बहुलतया कपटी नर हैं ॥३॥

दुःख चिरस्थायी न रहेगा जीवन में यह हे आत्मन् !
नीच खुशामद करनी होगी करना होगा वान्त ग्रहण ॥४॥

नारकीय जीवन स्वीकृत होगा व गृहस्थी में बसकर।
दुर्लभ होगा धर्म पालना माया-पाशों में फँसकर ॥५॥

विविध रोग आतङ्कों से यह नष्ट सुकोमल होगा तन।
इष्टाऽनिष्ट वियोग-योग संकल्प करेंगे व्याकुल मन ॥६॥

क्लेश-युक्त गृहिवास और फिर निरुपक्लेश संयम-धन है।
बन्धन है गृहि-वास और चारित्र मोक्ष का साधन है ॥७॥

है गृही-वास सावद्य व असावद्य मुनि की पर्याय समझना।
बहु साधारण कामभोग हैं, पुण्य-पाप है अपना-अपना ॥८॥

अध्रुव नर-जीवन कुशाग्र जल-बिन्दु तुल्य अति है चंचल।
बहुत किये हैं पाप अतः यह चपल हुआ मन का अंचल ॥९॥

दुष्प्रतिक्रान्त पूर्व संचित जो पाप कर्म हैं मेरे स्पष्ट।
भोगे बिना न मोक्ष भोगने पर ही ये सब होंगे नष्ट ॥१०॥

अथवा तीव्र तपस्या द्वारा पूर्व कर्म क्षय हो सकते।
अन्तिम अष्टादशम स्थान यह और श्लोक भी सुन सकते ॥११॥

---

१. नौका की पतवार।

भोगों के खातिर अनार्य जब विशद धर्म को तजता है।
अज्ञ, भोग-मूर्च्छित भविष्य का बिल्कुल सोच न करता है ॥१२॥

भूमि-पतित ज्यों इन्द्र बाद में पश्चात्ताप सतत करता।
त्यों अवधावित सर्व-धर्म-परिभ्रष्ट हुआ मुनि दुख धरता ॥१३॥

पहले वन्दनीय होता पीछे अवन्द्य जब वह होता।
स्थानच्युत सुर की नाईं वह सदा बाद में है रोता ॥१४॥

जो पहले पूजित होता फिर वही अपूजित यदि बनता।
राज्य-भ्रष्ट नृप की नाईं अनुताप बाद में वह करता ॥१५॥

जो पहले मानित होता यदि वही अमानित हो जाता।
क्षुद्र ग्राम-अवरुद्ध सेठ ज्यों, पीछे से वह पछताता ॥१६॥

यौवन के जाने पर जब वह जरा-ग्रस्त हो जाता है।
कांटे को विनिगलने वाले मत्स्य भाँति पछताता है ॥१७॥

कुटुम्ब की दुश्चिन्ताओं से प्रतिहत जब वह हो जाता।
बन्धन-बद्ध मतंग भाँति फिर पीछे से है पछताता ॥१८॥

पुत्र-स्त्री परिकीर्ण, मोह-प्रवाह व्याप्त जब हो जाता।
पंक-निमग्न मतङ्ग भाँति वह पीछे से है पछताता ॥१९॥

जिनोपदिष्ट श्रमणता में यदि रमण आज तक कर पाता।
तो मैं भावितात्म, बहुश्रुत अब तक गणि-पद भी पा जाता ॥२०॥

संयम-रत मुनि का संयम है देवलोक सम सुखदायी।
और अरत के लिए वही फिर महा नरक सम दुखदायी ॥२१॥

संयम-रत मुनिजन को जग में सुख उत्तम अमरोपम जान।
दुःख अरत को नरकतुल्य, अतः एव चरित-रत हो धीमान ॥२२॥

विध्यापित यज्ञाग्नि व जहरी अहि अदंष्ट्र ज्यों तेजविहीन।
पराभूत होता त्यों निम्न जनों से धर्म-भ्रष्ट, अघलीन ॥२३॥

भग्न-व्रत धर्मश्च्युत मुनि का यहाँ कुनाम व अपयश हो।
निम्न जनों से भी निन्दित हो मिले अधम गति उसे अहो ॥२४॥

तीव्र गृद्धि से भोग भोगकर प्रचुर असंयम सेवन कर।
दुखद अनिष्ट कुगति में जाता, जहाँ बोधि फिर है दुष्कर ॥२५॥

क्लेशाऽऽवृत दुःखोपनीत नारक के पल्योपम सागर।
हो जाते हैं पूर्ण एक दिन तो मेरा दुख क्या दुस्तर ॥२६॥

दुख मेरा यह चिर न रहेगा भोग-पिपासा है अस्थिर।
तन बल रहते मिटे न चाहे मिटे मृत्यु पर वह आखिर ॥२७॥

यों दृढ़ जिसकी आत्म बने वह धर्म न तजे, तजे निज तन।
डिगा न सकती उसे इन्द्रियाँ ज्यों सुमेरु को प्रलय-पवन ॥२८॥

यों धीमान सोच पहचाने आयोपाय[1] विविध पावन।
त्रिकरण योग त्रिगुप्ति-गुप्त जिन वचन अधिष्ठित रहे श्रमण ॥२९॥

---

१. लाभ और उनके साधन।

दूसरी चूलिका
विविक्तचर्या

जिनवर-कथित चूलिका श्रुत को यहाँ कहूंगा मैं स्फुटतर।
पुण्यवान नर हो जाते धर्मोत्साहित जिसको सुनकर ॥१॥

अनुस्रोतगामी बहुजन पर प्रतिस्रोत है जिसका लक्ष्य।
प्रतिस्रोत में ही आत्मा को ले जाए मोक्षार्थी दक्ष ॥२॥

अनुस्रोत सुख माने जग, आश्रव[1] प्रतिस्रोत विज्ञ का है।
अनुस्रोत संसार तथा प्रतिस्रोत उतार उसी का है ॥३॥

अतः चरित्र-पराक्रम संवर-बहुल, समाहित मुनि जन के।
लिए यहाँ द्रष्टव्य नियम गुणचर्यादिक जो हैं उनके ॥४॥

समुदानिक चर्या अज्ञात उंछ एकान्त व अगृह-निवास।
कलह-त्याग, अल्पोपधि, सुन्दरऋषिजनविहारचर्या खास ॥५॥

जनाऽऽकीर्ण, अवमान[2] भोज तज, हृत[3] उत्सन्न दृष्ट जल-भक्त।
ले संसृष्ट-करों से मुनि तज्जात[4] लिप्त हो तो विधियुक्त ॥६॥

मद्य-मांस-त्यागी अमत्सरी पुनः पुनः रस त्याग करे।
बार-बार कायोत्सर्गी स्वाध्याय-योग[5] में यत्न करे ॥७॥

ये शय्यादि मुझे ही देना यों न गृही को मुनि बाँधे।
ग्राम नगर कुल देश कहीं भी ममता भाव नहीं साँधे ॥८॥

गृहि-शुश्रूषा अभिवादन वन्दन-पूजन न करे मुनिवर।
असंक्लिष्ट जन साथ बसे, ज्यों हो न चरित्र-हानि तिल-भर ॥९॥

समगुण अथवा अधिक गुणी मुनि निपुण सहायक मिले न जब।
काम-विरत सब पाप-रहित एकाकी गण में विचरे तब ॥१०॥

---

१. इन्द्रिय-विजय।
२. आकीर्ण और अवमान नामक भोज।
३. प्रायः दृष्ट स्थान से लाया हुआ।
४. दाता जो वस्तु दे रहा है उसी से संसृष्ट।
५. स्वाध्याय के लिये विहित तपस्या।

पावस या फिर मासकल्प कर वहाँ न अगला[1] वास वसे।
सूत्र तथा अर्थानुरूप ही भिक्षु स्वयं को सदा कसे ॥११॥

पूर्वाऽपर निशि में निज को निज से पहचाने महामना।
क्या-क्या किया, शेष क्या करना और शक्य क्या है अधुना ॥१२॥

मेरी स्खलना अन्य या कि मैं देख रहा तज रहा नहीं।
यों सम्यक् सोचे वह आगे करे नहीं प्रतिबन्ध कहीं ॥१३॥

मन वच तन से दुष्प्रवृत्त देखे मुनि निज को यहाँ कभी।
खींचे मन को वापिस, ज्यों हय को लगाम से धीर तभी ॥१४॥

जो सत्पुरुष जितेन्द्रिय यों स्थित-योग धीर रहता गण में।
कहलाता प्रतिबुद्ध और वह जीता संयम जीवन में ॥१५॥

सर्वेन्द्रिय सुसमाहित होकर आत्म-सुरक्षा करे मुदा।
रक्षित दुःखमुक्त होता, भव-भ्रमण अरक्षित करे सदा ॥१६॥

---

१. चतुर्मास करने के बाद वहां फिर दो चतुर्मास न करना, तथा मास कल्प रहने के बाद वहां फिर दो मास न रहना।

श्री उत्तराध्ययन

(हिन्दी पद्यानुवाद)

❀ मंगला चरण ❀

अविनाशी अविकार अरुज अज अव्याबाध अनन्त अधीश।
अक्षय अजर अमर अद्वेष अतनु को नमस्कार नतशीश ॥१॥

अणुव्रत आन्दोलन-उन्नायक जैन-जगत-आदित्य अनन्य।
राष्ट्र-पूज्य आचार्य चरण तुलसी को पाकर धरणी धन्य ॥२॥

दशवैकालिक आगम का पद्यानुवाद करने के बाद।
अब उत्तराध्ययन-हिन्दी-पद्यानुवाद करता साल्हाद ॥३॥

पहला अध्ययन

विनयश्रुत

जो संयोग-मुक्त, अनगार, भिक्षु है, उसका मूल विनय।
प्रकट करूँगा क्रमशः अब तुम मुझे सुनो होकर तन्मय ॥१॥

गुरु-आज्ञा, निर्देश-प्रपालक, गुरु-सेवा को अपनाता।
जो इंगित, आकार-विज्ञ है, वह मुनि विनयी कहलाता ॥२॥

जो आज्ञा, निर्देश तथा गुरु-सेवा को न निभा पाता।
प्रत्यनीक फिर असंबुद्ध, अविनीत वही है कहलाता ॥३॥

सड़े कान वाली कुतिया को ज्यों कि निकाला जाता है।
प्रत्यनीक दुःशील मुखर त्यों गण से टाला जाता है ॥४॥

छोड़ चावलों की भूसी, ज्यों सूअर विष्ठा खाता है।
त्यों वह मूढ़ शील को तज दुःशील सतत अपनाता है ॥५॥

कुतिया सूअर की ज्यों दुःशीलों के हीन-भाव सुनकर।
विनय धर्म में निज को स्थापित करे, आतम-हित इच्छुक नर ॥६॥

अतः विनय का पालन करे कि जिससे मिले विशद आचार।
बुद्ध-पुत्र मोक्षार्थी को न कहीं पर भी मिलती फटकार ॥७॥

अमुखर, शान्त, शिष्य आचार्यों के सन्निकट सदा रहकर।
अर्थ-युक्त पद सीखे तजे निरर्थक बातें सब सहकर ॥८॥

अनुशासित होने पर क्रुद्ध न बने क्षमा धारे पंडित।
तजे क्षुद्र-संसर्ग, हास्य, क्रीड़ा भी छोड़े गुण-मंडित ॥९॥

चंडालोचित कार्य न करे तथा न बहुत बोले गुणवान।
कर स्वाध्याय समय पर फिर एकाकी ध्यान धरे अम्लान ॥१०॥

सहसा चांडालिक करके भी, उसे छिपाए कभी नहीं।
कृत को कृत व अकृत को अकृत कहे पूछे सद्गुरु जब ही ॥११॥

दुष्ट अश्व चाबुक को त्यों चाहे गुरु वचन न बारम्बार।
कशा देख विनयी हय की ज्यों अशुभ प्रवृत्ति तजे हर बार ।।१२।।

कुशील कटुभाषी आज्ञालोपक मृदु को भी कुपित बनाता।
चित्तानुग, लघु, दक्ष, शिष्य क्रोधित गुरु को भी शान्त बनाता ।।१३।।

पूछे बिना न बोले किंचित् झूठ न कहे पूछने पर।
करे क्रोध को अफल तथा प्रिय अप्रिय सभी सहे मुनिवर ।।१४।।

यह आत्मा दुर्दम है अतः चाहिए करना आत्म-दमन।
इह पर-भव में सदा सुखी रहता दान्तात्मा प्रमुदित मन ।।१५।।

तप-संयम से निज आत्मा का दमन करूँ पथ श्रेष्ठ यही।
अन्य लोग, वध-बन्धन द्वारा दमन करे यह उचित नहीं ।।१६।।

जन समक्ष या विजन स्थान में गुरुजन से न बने प्रतिकूल।
मन वच, काया से सुशिष्य न कदापि करे एतादृश भूल ।।१७।।

गुरु के आगे-पीछे नहीं बराबर भी बैठे अनगार।
सटकर भी बैठे न सुगुरु वच शय्या-स्थित न करे स्वीकार ।।१८।।

पर्यस्तिका व पक्षपिण्ड आसन से कभी नहीं बैठे।
जब कि समीप स्थित गुरु हों तब पाँव पसार नहीं बैठे ।।१९।।

संबोधित आचार्य करे जब तब मुनि नहीं रहे चुपचाप।
मोक्षार्थी गुरु-निकट कृपा-अभिमुख बन सदा रहे निष्पाप ।।२०।।

सकृत व पुनः-पुनः संबोधित करने पर न रहे बैठा।
आसन तज गुरु-वचन यत्न से ग्रहण करे धृति में पैठा ।।२१।।

आसनगत या शय्यागत न कभी भी पूछे गुरुजन से।
आ समीप, उत्कटुकासन हो प्रांजलि पुट, पूछे उनसे ।।२२।।

ऐसे विनयवान को सूत्र-अर्थ फिर तदुभय सिखलाए।
प्रश्न पछने पर सुशिष्य को सगुरु यथाश्रुत बतलाए ।।२३।।

तजे झूठ, फिर निश्चयकारी गिरा न बोले भिक्षु कदा।
भाषा के सब दोष तजे, मुनि छोड़े माया-पाप सदा ।।२४।।

मुनि सावद्य, निरर्थक, मार्मिक वचन न कहे पूछने पर।
बिना प्रयोजन स्व-पर उभय के लिए न बोले जीवन-भर ।।२५।।

स्मर व अगार, संधियों पर स्थित अथवा राजपंथ पर भी।
नहीं अकेली स्त्री सह ठहरे नहीं बात भी करे कभी ।।२६।।

मृदु कठोर वचनों से गुरु जो सीख मुझे देते हरबार।
मेरे हित के लिए जान यों करे यत्नपूर्वक स्वीकार ।।२७।।

मृदु, कट-वचन युक्त दुष्कृत नाशक शिक्षा को भी सुनकर।
उसे प्राज्ञ हित रूप मानता करता द्वेष असाधक नर ।।२८।।

अभय, विज्ञजन, कठोर शिक्षा को भी निज हितकर गिनता।
क्षमा, शुद्धिकर अनुशासन मूढ़ों के द्वेष-हेतु बनता ।।२९।।

मुनि अनुच्च, स्थिर, अकम्प आसन पर बैठे अचपल बनकर।
बिना प्रयोजन न उठे स्वल्प बार कारणवश उठे प्रवर ।।३०।।

जाए मुनि भिक्षार्थ समय पर वापिस आए स्व समय पर
तज कर असमय को फिर समयोचित नित कार्य करे गुणधर ।।३१।।

नहीं पंक्ति में खड़ा रहे दत्तेषण रक्त रहे मुनिवर।
कर प्रतिरूप-गवेषण परिमित खाये यथा समय धृति-धर ।।३२।।

अधिक दूर अति निकट न ठहरे भिक्षु व दाता के सम्मुख भी।
एकाकी ठहरे अशनार्थ, न जाए उसको लाँघ कभी भी ।।३३।।

ऊँचे से नीचे या अति दूर निकट से भी न ग्रहे।
पर-कृत प्राशुक अशन ग्रहे संयत संयम को सतत वहे ।।३४।।

प्राण, बीज से रहित तथा संवृत प्रतिछन्न उपाश्रय पर।
यतनापूर्वक साधार्मिक सह खाये न गिराए भू पर ।।३५।।

किया, पकाया, काटा अच्छा घृत यह अच्छा हुआ मरा।
अच्छा रस, अति प्रिय यह है, यों मुनि सावद्य न कहे गिरा ।।३६।।

सीख सुज्ञ को देते गुरु खुश होते ज्यों वर हय वाहक।
सीख अज्ञ को देते क्लान्त बने ज्यों दुष्ट अश्व वाहक ।।३७।।

हित शासन को ठोकर, वध, आक्रोश, चपेट मानता है।
पापदृष्टि अविनीत अहितकर गुरु की सीख जानता है ॥३८॥

ज्ञाति बन्धु, सुत लख गुरु सीख मुझे देते, माने सुविनीत।
निज को दास समझ, गुरु शासन माने पापदृष्टि अविनीत ॥३६॥

गुरु को कुपित न करे तथा फिर नहीं कुपित हो स्वयं कभी।
बुद्ध जनों का घातक न बनें न बने छिद्र-गवेषक भी ॥४०॥

कुपित जान गुरु को, प्रतीतिकारक वचनों से करे प्रसन्न।
हाथ जोड़ कर शान्त करे फिर न करूँगा यों कहे वचन ॥४१॥

धर्मार्जित या फिर तत्वज्ञाऽऽचरित जो कि व्यवहार कहा।
उस पर चलने वाले की न कभी होगी निन्दा, गर्हा ॥४२॥

गुरु के वचन मनोगत भावों को सम्यक् पहचान मुदा।
वाणी से स्वीकृत कर कार्य रूप में परिणत करे सदा ॥४३॥

विनती, अप्रेरित भी सुप्रेरित ज्यों कार्य करे सत्वर।
यथोपदिष्ट सुकृत कार्यों को करता रहे सतत मतिधर ॥४४॥

सुधी जान यों नम्र बने जो, जग में यश उसका होता।
जीवों को ज्यों पृथ्वी त्यों आधारभूत गण का होता ॥४५॥

पूज्य, पूर्व-संस्तुत, संबुद्ध, सुगुरु प्रसन्न होते जिस पर।
विपुल अर्थ श्रुत लाभ उसे देते प्रसन्न होकर गुरुवर ॥४६॥

पूज्यशास्त्र, गत-संशय, मन रुचि कर्म संपदा-स्थित द्युतिमान्।
तपः सामाचारी व समाधि-सुसंवृत पंच महाव्रतवान ॥४७॥

नर गंधर्व देव-पूजित वह समल देह को छोड़ यहाँ।
शाश्वत सिद्ध बने व महर्द्धिक देव स्वल्प-रज बने कहा ॥४८॥

दूसरा अध्ययन

परीषह

भगवत् प्रतिपादित द्वाविंशति परिषह मैंने सुने यहाँ।
श्री भगवान श्रमण काश्यप प्रभु महावीर ने उन्हें कहा ॥१॥

जिन्हें समझकर, सुनकर, परिचित कर, प्रविजित कर भिक्षु सही।
भिक्षाऽऽटन करते नित स्पर्शित होने पर भी डिगे नहीं ॥२॥

कहो कौन से वे बाईस परिषह यहाँ प्रवेदित हैं।
जो भगवान् श्रमण काश्यप प्रभु महावीर से समुदित हैं ॥३॥

जिन्हें समझकर सुनकर परिचित कर प्रविजित कर भिक्षु सही।
भिक्षाऽऽटन करते नित स्पर्शित होने पर भी डिगे नहीं ॥४॥

ये हैं द्वाविंशति परिषह जो महावीर से सुकथित हैं।
श्री भगवान् श्रमण काश्यप के द्वारा जो कि प्रवेदित हैं ॥५॥

इन्हें समझकर सुनकर परिचित कर प्रविजित कर भिक्ष सही।
भिक्षाऽऽटन करते ये स्पर्शित होते, फिर भी डिगे नहीं ॥६॥

क्षुधा[१] पिपासा[२] शीत[३] उष्ण[४] फिर दंश[५] मशक व अचेल[६] यथा।
अरति[७] अंगना[८] चर्या[९] व निषीधिका[१०] परिषह कहा तथा ॥७॥

दुःशैय्या[११] आक्रोश[१२] तथा वध[१३] दुखद याचना[१४] कष्ट महा।
फिर अलाभ[१५] रुग्[१६] तृणस्पर्श[१७] प्रस्वेद[१८] परिषह स्पष्ट कहा ॥८॥

पुरस्कार[१९] सत्कार ततः प्रज्ञा[२०] अज्ञान[२१] व दर्शन[२२] है।
मुनि-जीवन में इन सबका नित होता रहता स्पर्शन है ॥९॥

काश्यप ने जो किए प्रवेदित परीषहों के यहाँ विभाग।
उनका क्रमशः प्रतिपादन करता हूँ मुझे सुनो शुभभाग! ॥१०॥

तन में क्षुधा व्याप्त होने पर भिक्षु बलिष्ठ तपस्वी जो।
काटे न कटाए व पचन-पाचन को तजे मनस्वी हो ॥११॥

---

१. ऊपर के २२ अंक परीषहों की संख्या के सूचक हैं।

काली पर्वाङ्ग-सदृश कृश-तन, स्पष्ट दीखता धमनी-जाल।
अशन-पान-मात्रज्ञ, अदीन-मना फिर भी विचरे उस काल ॥१२॥

ततः प्यास लगने पर पाप-जुगुप्सी संयत लज्जावान।
शीतोदक न ग्रहे मुनि विकृत नीर की खोज करे धीमान् ॥१३॥

छाया-रहित विजन-पथ में, प्यासाऽऽकुल बने अतीव कदा।
शुष्क मुंह मुनि, अदीनता से तृषा-परीषह सहे तदा ॥१४॥

हुए विचरते, रूक्ष, विरत मुनि को सर्दी लगती भारी।
फिर भी जिन-शासन को सुन वह समय न लांघे व्रतधारी ॥१५॥

शीत-निवारक स्थान वस्त्र भी मेरे पास न है पर्याप्त।
तो फिर अग्नि ताप लूँ, यों चिन्तन भी न करे संयम-प्राप्त ॥१६॥

ग्रीष्म-ताप से तप्त, दाह-पीड़ित अत्यन्त बने जिस बार।
सुख के लिए न आकुल, व्याकुल बने कभी संयत धृति धार ॥१७॥

ग्रीष्म-तप्त, मेधावी स्नान न करना चाहे यहाँ कभी।
जल से तन सींचे न, हवा भी न करे मुनि निज तन पर भी ॥१८॥

दंश-मशक स्पर्शित होने पर, रखे महा मुनिवर समता।
ज्यों कि शूर गज संगर में, आगे हो अरियों को दमता ॥१९॥

रुधिर, मांस खाने पर भी न हटाए, त्रस्त न हो मुनिवर।
मन भी म्लान न करे, न मारे करे उपेक्षा ही उन पर ॥२०॥

वस्त्र जीर्ण हो गये सभी ये, बनूं अचेलक मैं इस बार।
अथवा बनूं सचेलक अब मैं यों न भिक्षवर करे विचार ॥२१॥

कभी अचेलक कभी सचेलक होते श्रमण यहाँ मन मार।
इन्हें धर्म-हित हितकर समझ न व्याकुल हो ज्ञानी अनगार ॥२२॥

गाँव-गाँव में विहरन करते हुए अकिंचन मुनिजन को।
कभी अरति हो जाए तो फिर सहन करे उस परीषह को ॥२३॥

विरत, आत्म-रक्षक मुनि, अरति परीषह को देकर के पीठ।
निरारंभ, उपशान्त, धर्म उपवन में रमता रहे पुनीत ॥२४॥

इस जग में मनुजों के लिए नारियाँ तीव्र लेप सम हैं।
सम्यक् इसे जानता उसका सफल श्रमणता का क्रम है। ॥२५॥

दलदल सम पहचान स्त्रियों को, उनमें न फँसे मेधावी।
संयम के पथ में विचरे नित आत्म-गवेषक समभावी ॥२६॥

प्राशुक-भोजी परीषहों को जीत श्रमणता वहन करे।
ग्राम, नगर या निगम राजधानी में एकाकी विचरे ॥२७॥

असदृश होकर भिक्षु रहे नित न करे परिग्रह-संचय।
रहे गृहस्थों से निर्लिप्त तथा विचरे होकर अनिलय ॥२८॥

शून्यागार, श्मशान, वृक्ष के नीचे रहे अकेला शान्त।
सर्व चपलताओं को तजकर पर को त्रास न दे मुनि दान्त ॥२९॥

तत्र-स्थित उपसर्ग प्राप्त हों सोचे ये क्या कर लेंगे अब।
लेकिन अनिष्ट-शंका से डरकर अन्यत्र न जाए मुनि तब ॥३०॥

प्राणवान, सुतपस्वी उच्चावच शय्या से मर्यादा को—
लांघे नहीं, किन्तु जो पाप-दृष्टि वह लाँघे मर्यादा को ॥३१॥

अच्छा-बुरा विविक्त स्थान मिलने पर ऐसे सोचे स्पष्ट।
एक रात्रि में यह क्या कर लेगा ? यों सोच सहे सब कष्ट ॥३२॥

यदि कोई गाली दे मुनि को उस पर क्रोध न करे कहीं।
क्योंकि क्रोध से बने मूढ़ सम अतः क्रोध को तजे सही ॥३३॥

कठोर, दारुण, कंटक-सम चुभनेवाली भाषा सुनकर।
उसे न मन में सोचे कर उपेक्षा ही मौनी बनकर ॥३४॥

क्रोध न करे पीटने पर भी मन भी दूषित करे नहीं।
परम क्षमा को जान, धर्म का चिन्तन भिक्षु करे नित ही ॥३५॥

श्रमण दान्त संयत को कोई पीटे कहीं मनुष्य अनार्य।
नहीं जीव का नाश कभी होता यों सोचे संयत आर्य ॥३६॥

भव्यो ! अति दुष्कर अनगार भिक्षु की चर्या का अभ्यास।
सभी वस्तुएं याचित हैं न अयाचित कुछ भी उसके पास ॥३७॥

गोचराग्रगत मुनि के लिए न गृहि-सम्मुख कर का पसारना।
सरल, अतः गृहवास श्रेय है यों मन में न करे विचारणा ॥३८॥

भोजन बन जाने पर गृहि-सदनों में करे एषणा संत।
थोड़ा मिलने या कि न मिलने पर अनुताप न करे महन्त ।।३९।।

आज न भिक्षा मुझे मिली पर संभव है कल को मिल जाए।
जो यों सोचे उसे अलाभ सताता नहीं कहीं वह जाए ।।४०।।

रोगोत्पन्न वेदना पीड़ित होने पर न बने मुनि दीन।
प्रज्ञा को स्थिर रखे प्राप्त दुःख सहन करे हो समता-लीन ।।४१।।

आत्म-गवेषक समाधिस्थ समझे न चिकित्सा को अच्छा।
करे, कराये नहीं चिकित्सा यही श्रमणता है सच्ची ।।४२।।

रूक्ष गात्र व अचेलक संयत और तपस्वी के जीवन में।
तृण पर सोने से होती है चुभन-व्यथा उस मुनि के तन में ।।४३।।

अति आतप पड़ने पर अतुल वेदना हो जाती यों जान।
फिर भी वस्त्र न धारे तन पर तृण पीड़ित वह साधु महान ।।४४।।

ग्रीष्म-ताप से तप्त तथा प्रस्वेद रजों से पंकिल गात्र।
है फिर भी मेधावी सुख-हित नहीं विलाप करे तिल मात्र ।।४५।।

आर्य निर्जरापेक्षी धर्म अनुत्तर पाकर वहन करे।
देहनाश तक तन पर स्वेद-जनित परिषह को सहन करे ।।४६।।

अभिवादन सत्कार निमंत्रण का सेवन जो करते नृप से।
उनकी इच्छा न करे, धन्य न माने उनको मुनिवर मन से ।।४७।।

अज्ञातैषी, अल्प-कषाय, अलोलुप, अल्प-इच्छु, धीमान्।
रस-मूर्च्छित न बने न करे अनुताप देख पर का सम्मान ।।४८।।

पूर्वार्जित अज्ञान फलद कर्मों के कारण मैं उत्तर।
देना नहीं जानता किस ही के कुछ पूछे जाने पर ।।४९।।

कृत-अज्ञान फलद ये कर्म उदय में आते पकने पर।
कर्म-विपाक जान यों अपने को आश्वासन दे मुनिवर ।।५०।।

मिथुन-विरति, इन्द्रिय-मन-दमन, निरर्थक मेरे व्रत-संघात।
क्योंकि धर्म शुभकर या अघकर यह न जानता मैं साक्षात् ।।५१।।

तप-उपधान-भिक्षु प्रतिमादिक धारण करने पर भी हन्त !
अब तक छद्मभाव से दूर न हुआ न ऐसे सोचे संन्त ॥५२॥

निश्चित पर-भव है न तथा मिलती न तपस्वी को ऋद्धि।
ठगा गया मैं तो हा ! ऐसी हो न कभी मुनि की बुद्धि ॥५३॥

जो कहते जिन हुए व होंगे तथा अभी भी हैं जिनवर।
झूठ बोलते हैं वे सारे—यों न कभी सोचे मुनिवर ॥५४॥

ये सब परिषह किये प्रवेदित काश्यप ने जो यहाँ सही।
इनसे स्पर्शित होने पर भी भिक्षु पराजित हो न कहीं ॥५५॥

तीसरा अध्ययन

चातुरंगीय

जन्तु-मात्र के लिए यहाँ दुर्लभ हैं परम अंग ये चार।
मानवता, श्रुति, श्रद्धा और पराक्रम संयम में सुखकार ।।१।।

विविध कर्म कर, विविध जातियों में प्राणी होकर उत्पन्न।
पृथक्-पृथक् ये स्पर्श समूचे जग का कर लेते सम्पन्न ।।२।।

कभी स्वर्ग में, कभी नरक में असुर-निकाय बीच जाता।
निज-कृत कर्मानुसार, प्राणी जग में यों चक्कर खाता ।।३।।

क्षत्रिय बनता कभी तथा चांडाल व बुक्कस बन जाता।
कभी कुन्थु या कीट-पतंगा चींटी बनकर दुख पाता ।।४।।

दुष्ट कर्मवाले प्राणी यों विविध योनियों में जाकर भी।
उपरम हुए न अब तक जैसे क्षत्रियगण सब कुछ पाकर भी।।५।।

कर्म-संग से जो संमूढ़ दुखित अति पीड़ित बन जाते।
कर्मों द्वारा मनुजेतर गतियों में वे ठेले जाते ।।६।।

क्रमशः कर्मक्षय से शुद्धि प्राप्त कर लेते जीव कदा।
अनायास फिर वे प्राणी पा लेते हैं मनुजत्व तदा ।।७।।

मानव-तन को पाकर भी है दुर्लभ धर्म श्रवण अविकार।
जिसे कि सुनकर क्षमा, अहिंसा तप को नर करते स्वीकार ।।८।।

धर्म-श्रवण मिल जाए उसमें श्रद्धा परम सुदुर्लभ स्पष्ट।
मोक्ष-मार्ग को सुनकर भी बहुजन हो जाते उससे भ्रष्ट ।।९।।

श्रुति, श्रद्धा पाकर भी दुर्लभ संयम में पुरुषार्थ सही।
संयम-रुचि होने पर भी बहुजन कर सकते ग्रहण नहीं ।।१०।।

नर-भव पाकर, धर्म श्रवण कर, दृढ़ श्रद्धा को जो चुनता।
प्राप्त-वीर्य, संवृत, सुतपस्वी, कर्म-रजों को वह धुनता ।।११।।

होती शुद्धि सरल की शुद्ध हृदय में धर्म ठहरता है।
वह घृत-सिक्त अग्नि की ज्यों उत्कृष्ट मोक्ष पद वरता है ।।१२।।

कर्म-हेतु को छोड़ क्षमा से संयम यश का संचय कर।
इस पार्थिव तन को तज ऊर्ध्व दिशा में गति करता वह नर ॥१३॥

विसदृश शील पालकर उत्तम से उत्तम सुर बनते हैं।
महा शुक्ल ज्यों दीप्यमान वे पुनः न च्यवन मानते हैं ॥१४॥

दैवी भोगों के हित अर्पित वे करते हैं ऐच्छिक रूप।
तथा असंख्य काल तक ऊर्ध्व कल्प में रहते दिव्य स्वरूप ॥१५॥

यथास्थान वे ठहर वहाँ आयुः क्षय होने पर च्यव कर।
मनुष्य जन्म के साथ दशांग प्राप्त कर लेते हैं वरतर ॥१६॥

क्षेत्र, मकान, सुवर्ण, दास, पशुओं से भृत जो होता स्थान।
चारों स्कंध काम के सुलुभ, जहाँ वे लेते जन्म प्रधान ॥१७॥

उच्च-गोत्र, फिर मित्र ज्ञाति वाला, अति रूपवान होता।
महाप्राज्ञ, गत रोग, यशस्वी, विनयी, शक्तिमान होता ॥१८॥

अनुपम, मानवीय भोगों के भोग यहां जीवन-भर अभिनव।
पूर्व विशुद्ध-धर्म वाले वे शुद्ध बोधि का करते अनुभव ॥१९॥

दुर्लभ जान चार अंगों को फिर करके संयम स्वीकार।
तप से कर्म-क्षय कर शाश्वत होता सिद्ध अचल अविकार ॥२०॥

चौथा अध्ययन

असंस्कृत जीवित

कर न प्रमाद असंस्कृत जीवन, है न जरोपनीत का त्राण।
लेंगे किसकी शरण प्रमादी हिंसक अविरत नर पहचान ॥१॥

कुमति ग्रहण कर पापों से धन अर्जन करते हैं तू देख।
मरने तत्पर, धन तज, कर्म-बद्ध वे जाते नरक अनेक ॥२॥

ज्यों स्व-कर्म से सन्धि-मुख-स्थित गृहीत तस्कर मारा जाता।
त्यों पापी नर इह-पर-भव में कृत कर्मों से छूट न पाता ॥३॥

संसृति-प्राप्त जीव परिजन-हित कृत्य जो कि साधारण करते।
किन्तु विपाक समय में उनके बान्धव भी न बन्धुता धरते ॥४॥

अत्र-परत्र लोक में धन से त्राण न जीव प्रमादी पाता।
नष्ट दीप ज्यों प्रबल मोह से नय-पथ-विज्ञ अज्ञ बन जाता ॥५॥

सुप्तों में भी जागृत, प्रमाद में प्रत्यय न करे पंडित जन।
अप्रमत्त भारंड विहग ज्यों रहे, घोर है काल, अबल तन ॥६॥

छुट-पुट दोषों को भी पाश समझ, भय खाता विचरे मुनिजन।
लाभ-हेतु तन-पोषण करे, अलाभ जान विध्वंस करे तन ॥७॥

स्पृहा-रोध से सकवच शिक्षित हय ज्यों रण-विजयी हो जाता।
त्यों पहले जीवन में अप्रमत्त रह झट मोक्ष-स्थल पाता ॥८॥

पहले धर्म न करे कहे पीछे कर लूंगा वह ध्रववादी।
आयु-शिथिल, तन-भेद मृत्यु द्वारा होने पर बने विषादी ॥९॥

झट विवेक जगता न अतः उठ काम-भोग आलस्य छोड़ अब।
जान लोक को, समता में रम, आत्मरक्ष, अप्रमत्त विचर अब ॥१०॥

उग्र विहारी, मोह-विजय-हित, बार-बार वह यत्न करे।
विविध स्पर्श पीड़ित होने पर, उन पर कभी न द्वेष करे ॥११॥

मतिहर तथा लुभानेवाले स्पर्शों में मन को न लगाए ।
क्रोध मान माया व लोभ को छोड़ सतत निज आत्म बचाए ॥१२॥

राग-दोष-रत, तुच्छ, अन्यतीर्थिक, परवश संस्कृत व अधर्मी ।
जन से दूर रहे गुण-इच्छा रखे आयु-पर्यन्त सुकर्मी ॥१३॥

पाँचवाँ अध्ययन

अकाम-सकाम मरण

महौघ, दुस्तर अर्णव से तिर गये कई मानव यतिमान।
उनमें एक महान प्राज्ञ ने ऐसा स्पष्ट किया फरमान ॥१॥

ज्ञातृ-पुत्र ने दो प्रकार से मरण कहा है यहाँ यथा।
पहला मरण सकाम दूसरा मरण अकाम प्रसिद्ध तथा ॥२॥

बाल-जनों का मरण अकाम यहाँ अनेकधा होता है।
मरण सकाम पंडितों का उत्कृष्ट एकधा होता है ॥३॥

महावीर स्वामी ने यहाँ कहा उनमें यह पहला स्थान।
काम-गृद्ध होकर अति क्रूर कर्म करता है वह नादान ॥४॥

पर-भव को देखा न, किन्तु यह चक्षु-दृष्ट है काम-रति।
कामासक्त मनुज की हो जाती असत्य की ओर गति ॥५॥

काम हस्तगत यहां हमारे आगे ये हैं संशय युक्त।
कौन जानता पर-भव है या नहीं ? अतः ये हैं उपयुक्त ॥६॥

मैं भी सब लोगों के साथ रहूंगा यों कहता अज्ञेश।
काम-भोग में रक्त बना वह पाता नाना विध संक्लेश ॥७॥

अतः कठोर दंड त्रस स्थावर जीवों को वह देता है।
अर्थ, अनर्थ-प्राणियों की हिंसा में भी रस लेता है ॥८॥

हिंसक, अलीक-भाषी, बाल, पिशुन, शठ तथा मनुज मायी।
सुरा, मांस को खाता है फिर इन्हें समझता सुखदायी ॥९॥

काय-वचन-उन्मत्त, वित्त-मूर्च्छित, स्त्री-लोलुप दोनों ओर।
ज्यों शिशुनाग, मृत्तिका को त्यों संचित करता कर्म कठोर ॥१०॥

ततः रोग से स्पृष्ट ग्लान वह पीड़ित हो दुख पाता है।
फिर निज कृत कर्मों को स्मर के पर-भव से भय खाता है ॥११॥

सुने नरक के स्थान अशीलों की गति मैंने सुनी यहाँ।
क्रूर कर्म वाले अज्ञानी, पाते दुःख प्रगाढ जहाँ ॥१२॥

जैसा वहाँ औपपातिक स्थल वैसा मैंने सुना सही।
निज-कृत कर्मानुसार मृत्यु समय वह पछताता तब ही ॥१३॥

समतल राजपंथ को छोड़ विषम पथ पर चल पड़ता जान।
धुरी टूट जाने पर शोक-मग्न होता ज्यों गाड़ीवान ॥१४॥

त्यों ही छोड़ धर्म को जोकि अधर्म पंथ को अपनाता।
मृत्यु-मुंह में पड़ा अज्ञ शाकटिक भाँति फिर पछताता ॥१५॥

मृत्यु-समय, भय-त्रस्त बाल फिर मरता है वह मृत्यु-अकाम।
एक दाँव में ज्यों कि जुआरी दुख पाता धन हार तमाम ॥१६॥

अज्ञ-जनों का अकाम-मरण प्रवेदित किया गया पहचान।
पंडित-जन का सकाम मरण सुनो अब मुझ से तुम मतिमान ॥१७॥

पुण्यवान, संयमी, जितेन्द्रिय का जो अनुश्रुत मरण यथा।
वह प्रसन्न आघात-रहित होता है सम्यक् मुझे पता ॥१८॥

सभी साधु या सभी गृहस्थों का न सकाम-मरण होता।
क्योंकि गृहस्थी विविध शील मुनि समाज विषम-चरण होता ॥१९॥

एक मुनि-जन से भी गृहि-जन होते संयम-उत्कृष्ट।
सभी गृहस्थों से मुनिजन फिर होते हैं आचार-विशिष्ट ॥२०॥

चीवर, चर्म, जटा, संघाटी, सिर-मुंडन, नग्नत्व सभी।
दुष्ट शीलवाले मुनि की रक्षा कर सकते ये न कभी ॥२१॥

भिक्षाजीवी यदि कुशील हो तो न नरक से बच पाता।
मुनि हो, चाहे गृही, सुव्रती हो तो स्वर्ग पहुंच जाता ॥२२॥

सामायिक अंगों का सेवन करे गृही श्रद्धालु सभी।
उभय-पक्ष पौषध धारे छोड़े न एक दिन रात कभी ॥२३॥

यों शिक्षा से युक्त सुव्रती करता हुआ यहाँ गृहवास।
औदारिक तन छोड़ शीघ्र वह स्वर्गलोक में करे निवास ॥२४॥

संवृत भिक्षु उभय गति में से एक अवश्य प्राप्त करता।
बने महर्द्धिक सुर अथवा सब दुःख-मुक्त हो भव तरता ॥२५॥

क्रमशः उत्तम, मोह-रहित, द्युतिमान देव-आकीर्ण विमान।
होते हैं उनमें रहनेवाले सुर महा यशस्वी जान ॥२६॥

दीर्घायु व समृद्ध ऋद्धिमान करते हैं ऐच्छिक रूप।
अधुनोत्पन्न कान्ति वाले वे अति तेजस्वी सूर्य-स्वरूप ॥२७॥

संयम तप का कर अभ्यास, उन्हीं स्थानों में वे जाते हैं।
मुनि हो चाहे गही किन्तु उपशान्त भाव जो अपनाते हैं ॥२८॥

उन संयत, सत्पूज्य, जितेन्द्रिय का स्वरूप सुनकर अति स्फीत।
मृत्यु-समय पर शीलवान बहुश्रुत न कभी बनते भयमीत ॥२९॥

निज को तोल, विशेष ग्रहण कर यति धर्मोचित क्षमा वहे।
तथाभूत आत्मा के द्वारा मेधावी सुप्रसन्न रहे ॥३०॥

ततः मृत्यु आने पर गुरु से अनशन श्रद्धाशील ग्रहे।
कपट-जनित रोमांच दूर कर देह-भेद चाहता रहे ॥३१॥

मृत्यु-समय में तप के द्वारा करता तन का त्याग सधीर।
तीन सकाम-मरण में से वह किसी एक से मरता वीर ॥३२॥

छठा अध्ययन

क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय

विद्याहीन पुरुष जितने हैं वे सब दुख पैदा करते हैं।
इस अनन्त संसृति में बहुशः मूढ़ लुप्त होते रहते हैं ।।१।।

पाश व जाति-पथों की अतः समीक्षा सम्यक् पंडित कर।
स्वयं सत्य को खोजे, मैत्री भाव रखे सब जीवों पर ।।२।।

मात, पिता, सुतवधू व भ्राता, भार्या औरस-पुत्र सही।
कर्म-विपाक समय में ये सब मम रक्षार्थ समर्थ नहीं ।।३।।

सम्यक्दर्शी उक्त विषय को निज मति से सोचे-समझे।
गृद्धि स्नेह को छोड़ पूर्व परिचय अभिलाषा सतत तजे ।।४।।

गाय, अश्व, मणि, कुंडल, पशु, नर, दासादिक तज देने पर।
मनचाहा तू रूप बनाने में समर्थ होगा हे नर ! ।।५।।

स्थावर, जंगम, धन-धान्यादि गृहोपकरण यहां सशक्त हैं।
किन्तु कर्म पीड़ित को दुःख-मुक्त करने में ये अशक्त हैं ।।

सब सुख जीवन मुझे इष्ट है त्यों सब जीवों को भी जान।
प्राणी के प्राणों को न हरे भीति-वैर-उपरत धीमान ।।६।।

परिग्रह को नरक जान, फिर बिना दिया तृण भी न ग्रहे।
पाप-जुगुप्सक, पात्र-दन्त भोजन खाये संतुष्ट रहे ।।७।।

ऐसा कई मानते हैं आचार-विज्ञ केवल बनकर नर।
पाप-त्याग के बिना सर्व दुःखों से होता मुक्त यहाँ पर ।।८।।

यों कहते पर क्रिया न करते बन्ध-मोक्ष के संस्थापक वे।
केवल वचन-वीरता से निज को देते हैं आश्वासन वे ।।९।।

नाना भाषाएं, विद्या का अनुशासन, कैसे हो त्राण ?
पाप कर्म में लिप्त स्वयं को विज्ञ मानते हैं अनजान ।।१०।।

मन वच तन से पूर्णतया जो वर्ण रूप तन में आसक्त।
वे सब अपने लिए दुःख पैदा करते हैं धर्म विरक्त ।।११।।

इस अनन्त संसृति के लम्बे पथ में पड़े हुए हैं सर्व ।
सभी दिशाएं देख चले मुनि अप्रमत्त हो रहे निगर्व ॥१२॥

श्रमण, ऊर्ध्व-लक्षी, न विषय-सुख की आकांक्षा करे कहीं ।
पूर्व कर्म क्षय करने हेतु, देह को धारण करे सही ॥१३॥

हो समयज्ञ भूमि पर विचरे, कर्म हेतुओं को ढाए ।
आवश्यक मात्रा में सहजोत्पन्न प्राप्त भोजन खाए ॥१४॥

लेप-मात्र भी अपने पास न कभी करे संग्रह मुनिवर ।
पक्षी ज्यों निरपेक्ष पात्र ले, भिक्षा-हित जाए घर-घर ॥१५॥

लज्जा, शील, एषणा युत हो गाँवों में अनियत विचरे ।
प्रमादियों से अप्रमत्त रहे अशन-एषणा करे ॥१६॥

भगवत् अर्हद ज्ञात-पुत्र वैशालिक द्वारा है आख्यात ।
जो कि अनुत्तर ज्ञान व दर्शन धारी व्याख्याता विख्यात ॥१७॥

सातवाँ अध्ययन

उरभ्रीय

यथा पाहुने के खातिर कोई बकरे को अपने घर पर।
रखकर पोषण करता है ओदन यव आदिक उसको देकर ॥१॥

ततः पुष्ट परिवृद्ध महोदर जात-मेद हो रहता है।
प्रीणित, विपुल देहवाला वह अतिथि प्रतीक्षा करता है ॥२॥

जब तक नहीं पाहुना आता, जीता बेचारा तब तक।
आने पर पाहुना छेद सिर खा जाते हैं उसे वधक ॥३॥

ज्यों कि मेमना मेहमान की नित्य प्रतीक्षा करता है।
बाल अधर्मी त्यों ही नर आयुष्य चाहता रहता है ॥४॥

हिंसक, अज्ञ, मृषावादी फिर पथिक लूटनेवाला नर।
अन्य दत्त हर, चोर, कुतोहर, मायावी, शठ तथा अपर ॥५॥

नारी-विषय गृद्ध फिर महदारंभ-परिग्रह मतवाला।
सुरा, मांसभोजी, बलवान व अपर दमन करनेवाला ॥६॥

अज कर्कर-भोजी, तुन्दिल फिर उपचित रुधिरवान पापिष्ट।
ज्यों एलक आदेश चाहता त्यों वह नरकाऽऽयुष्य अशिष्ट ॥७॥

शायनाऽऽसन, धन, यान, कामभोगों को भोग यहाँ जीवन-भर।
दुःखाहृत धन-व्यसनों में कर नष्ट, बहुत अघ-रज कर संचय ॥८॥

अघ से भारी प्राणी, केवल वर्तमान को ही लख पाता।
मेहमान आने पर अज ज्यों मृत्यु-समय पर वह पछताता ॥९॥

फिर आयुष्य पूर्ण होने पर देह छोड़कर हिंसक बाल।
अन्धकार युत नरक योनि में पड़ता परवश नर विकराल ॥१०॥

यथा काकिणी के खातिर कार्षापण मनुज हजार गँवाता।
और अपथ्य आम खाकर नृप निज जीवन सह राज्य गँवाता॥११॥

त्यों मानुष्यक कामभोग ये देवों के वर भोग समक्ष।
सहस्र गुना करने पर भी आ सकते नहीं दिव्य-समकक्ष ॥१२॥

प्रज्ञावान सुरों की पल्योपम व सागरोपम स्थिति है।
उसको कुछ कम सौ वर्षों में खो देता जो दुर्मते है ॥१३॥

यथा तीन व्यापारी मूल रकम लेकर के गए विदेश।
एक कमाकर आया अपर मूल लेकर आया निज देश ॥१४॥

वणिक् तीसरा मूल रकम खोकर आया है पहचानो।
यह व्यवहारिक उपमा, धर्म विषय में इसी भाँति जानो ॥१५॥

नर-भव मूल रकम सम है फिर लाभ देव-गति के सम है।
मूल-नाश से नरक व तिर्यंक-गति में जाते ध्रुव क्रम है ॥१६॥

आपद-वध-मूलक, दो गतियाँ अज्ञों की होती यह तत्त्व।
क्योंकि लोल शठ ने पहले ही हार दिया देवत्व, नरत्व ॥१७॥

ततः द्विविधि दुर्गति में, हारा हुआ जीव होता है जब।
दीर्घकाल के बाद वहाँ से बाहर आना है दुर्लभ ॥१८॥

देख विजित को तथा बाल-पंडित की तुलना कर सुविशेष।
नर-भव में आते वे करते मूल रकम के साथ प्रवेश ॥१९॥

विविध मान वाली शिक्षा से घर पर भी सुव्रत होते हैं।
वे नर-भव पाते हैं क्योंकि प्राणिगण कर्म-सत्य होते हैं ॥२०॥

जो कि विपुल शिक्षाओं से अतिक्रमण मूल का कर सत्वर।
शीलवान सुविशेष अदीन, प्राप्त करता देवत्व प्रवर ॥२१॥

पराक्रमी मुनि या गृहस्थ के फल को विज्ञ मनुज पहचान।
परास्त होता हुआ स्वयं की क्यों न जानता हार महान ॥२२॥

सिन्धु-सलिल की तुलना में ज्यों कुशा-अग्र जल-बिन्दु नगण्य।
त्यों सुर-भोगों के समक्ष, अति तुच्छ भोग ये मानवजन्य ॥२३॥

कुशाग्र जल सम कामभोग हैं और आयु भी है अत्यल्प।
तो फिर योग-क्षेम को क्यों न जानता यह आश्चर्य अनल्प ॥२४॥

आठवाँ अध्ययन

कापिलीय

अति असार अध्रुव व अशाश्वत दुःख प्रचुर इस संसृति में।
ऐसा कर्म कौन-सा है ? जिससे न पड़ूँ मैं दुर्गति में ।।१।।

छोड़ पूर्व संयोगों को फिर से न कहीं पर स्नेह करे।
स्नेही में जो अस्नेही होता वह दोष-प्रदोष परे ।।२।।

पूर्ण ज्ञान दर्शन युत, विगत मोह, सब प्राणी-हित-श्रेयार्थ।
मुनिवर कहने लगे, उन्हें अब सब कर्मों से विमोक्षणार्थ ।।३।।

सर्व ग्रन्थियाँ तजे, कलह भी, त्रायी भिक्षु तथा विध दीप्त।
सब भोगों में दोष देखता हुआ न उनमें होता लिप्त ।।४।।

भोगामिष में मग्न तथा हित-निश्रेयस् में मति-विपरीत।
बाल, मूढ, वह मंद, श्लेष्म में मक्खी ज्यों फँसता अपुनीत ।।५।।

ये दुस्त्यज हैं काम, अधीर नरों द्वारा ये सुत्यज नहीं।
सुव्रत साधु वणिक् ज्यों, दुस्तर को तरते सुख पूर्वक ही ।।६।।

हम हैं श्रमण कई यों कहते पर न प्राणि-वध कटु फल-विज्ञ।
पाप दृष्टि से नरक सिधाते वे मृग, बाल, मंद, अनभिज्ञ ।।७।।

प्राणी-वध अनुमोदक कभी न होता सब दुःखों से मुक्त।
साधु-धर्म प्रज्ञप्त यही उन तीर्थंकरों द्वारा यों सूक्त ।।८।।

प्राणी वध न करे, जो वह कहलाता त्रायी, समित, सधीर।
उससे पाप अलग हो जाता ज्यों उन्नत स्थल पर स्थित नीर ।।९।।

लोकाश्रित त्रस स्थावर जो सब जीव यहाँ रहते सुख से।
दण्ड-प्रयोग न करे किसी पर तन, मन से अथवा मुख से ।।१०।।

शुद्ध एषणा जान उसी में, करे भिक्षु निज को स्थापित।
रस-अलोल बन, ग्रास-एषणा करे स्व संयम पालन हित ।।११।।

नीरस, शीत, पिण्ड व पुरातन उड़द पुलाक व बुक्कस भोजन।
बदरी चुर्णादिक जीवन-यापन-हित सेवन करे तपोधन ।।१२।।

लक्षण, स्वप्न, अंग, विद्यादिक का प्रयोग जो करे यहाँ।
वे न साधु कहलाते ऐसा आचार्यों ने स्पष्ट कहा ॥१३॥

जीवन अनियन्त्रित रख जो कि समाधि-योग से होते भ्रष्ट।
काम-भोग-रस-गृद्ध, असुर निकाय में जाते, पाते कष्ट ॥१४॥

निकल वहाँ से जीव, बहुत फिर संसृति में खाते चक्कर।
अतीव कर्म-लेप से लिप्त, उन्हें फिर बोधि महा दुष्कर ॥१५॥

अगर किसी को दे-दे कोई धन-पूरित यह लोक अशेष।
उससे भी न तृप्त होता आत्मा इतना दुष्पूर विशेष ॥१६॥

यथा लाभ है तथा लोभ है, लोभ लाभ से बढ़ता जान।
वह द्विमाष-कृत कार्य न पूर्ण हुआ करोड़ से भी पहचान ॥१७॥

अनेक-चिन्ता, वक्ष कुचा, राक्षसी स्त्रियों में गृद्ध न हो।
लुभा पुरुष को जो कि दास की भाँति नचाती उसे अहो ॥१८॥

स्त्री को तजनेवाला श्रमण न गृद्ध बने उनमें कब ही।
जान मनोज्ञ धर्म को, उसमें निज को स्थापित करे सही ॥१९॥

विशुद्ध प्रज्ञावान कपिल मुनि ने यह धर्म कहा सुखकर।
जो कि करेंगे इसे, तरेंगे, उभय लोक-आराधन कर ॥२०॥

नौवाँ अध्ययन

नमि प्रव्रज्या

च्युत हो देवलोक से मनुजलोक में पैदा हुआ कृती।
उपशान्त मोह था जिससे पूर्वजन्म की हुई स्मृति ॥१॥

जन्म याद कर स्वयं बुद्ध उत्कृष्ट धर्म-हित हो तत्पर।
सुत को राज्य-भार दे घर से निकला वह नमि राज-प्रवर ॥२॥

देवलोक सम अन्तःपुर-गत वर भोगों को भोग प्रवर।
बोधि प्राप्त कर नमि नृप ने भोगों को छोड़ दिया सत्वर ॥३॥

पुरजन-पद सह मिथिला, सेना, अन्तःपुर परिजन सब तजकर।
अभिनिष्क्रमण किया नमि नृप ने, बना विजनवासी वह नरवर ॥४॥

घर तजकर प्रव्रजित हो रहा था वह नमि राजर्षि यदा।
मिथिला में सर्वत्र बहुल कोलाहल होने लगा तदा ॥५॥

उत्तम दीक्षा-हित उद्यत राजर्षि-प्रवर से शक्र वहाँ।
ब्राह्मण रूप धार आ, उसने इस प्रकार से स्पष्ट कहा ॥६॥

मिथिला नगरी के प्रासादों और गृहों में हे अधिराज !
क्यों कोलाहल-संकुल दारुण शब्द सुनाई देते आज ॥७॥

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ॥८॥

मिथिला में शीतल छायावाला था चैत्य वृक्ष सुन्दर।
पत्र, पुष्प, फल युत नित बहु विहगों का उपकारी गुरुतर ॥९॥

एक दिवस वह वृक्ष मनोरम उखड़ गया मारुत से जब।
दुःखित अशरण आर्त्त विहग सब आक्रन्दन करते हैं अब ॥१०॥

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भाँति कहा ॥११॥

यह पावक यह पवन आपका यह जल रहा विशाल भवन।
अन्तःपुर की ओर क्यों नहीं आप देखते हैं भगवन् ! ॥१२॥

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भांति कहा ।।१३।।

सुख से रहते जीते हैं हम, जिनके पास न कुछ भी है।
मिथिला जलती है उसमें मेरा न जल रहा कुछ भी है ।।१४।।

सुत दारा से मुक्त भिक्षु फिर जो रहता है निर्व्यापार।
उसके लिए न कोई प्रिय-अप्रिय है, सम सारा संसार ।।१५।।

जो एकत्व-तत्त्वदर्शी फिर सब बन्धन से होता मुक्त।
गृह-त्यागी सुतपस्वी मुनि वह विपुल सुखों से होता युक्त ।।१६।।

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भांति कहा ।।१७।।

पहले परकोटा, गोपुर, खाई व शतघ्नी बनाकर।
तदनन्तर तुम मुनि बन जाना कहना मानो क्षत्रियवर !।।१८।।

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भांति कहा ।।१९।।

श्रद्धा नगर व क्षमा शतघ्नी तप संयम अर्गला बना ।
मन वच काय गुप्ति-रक्षित दुर्जेय निपुण प्राकार बना ।।२०।।

धनुष पराक्रम रूप तथा ईर्ष्या को उसकी डोर बना।
धृति को मूठ बना फिर उसे सत्य से बांधे महामना ।।२१।।

तप नाराच युक्त, फिर उससे कर्म-कवच को कर भेदन ।
इस प्रकार कर अन्त युद्ध का, भव से होता मुक्त श्रमण ।।२२।।

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भांति कहा ।।२३।।

पहले वर प्रासाद व वर्धमान गृह तथा चन्द्रशाला ।
बनवाओ फिर हे क्षत्रियवर ! तुम मुनि बन जाना आला ।।२४।।

सुन करके यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ।।२५।।

वह संदिग्ध बना रहता है जो कि बनाता पथ में घर।
जहाँ कि जाना चाहे वहीं बनाए अपना घर बुध-वर ।।२६।।

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भांति कहा ॥२७॥

प्राण लुटेरों, गिरहकटों, बटमारों, चोरों का निग्रह कर।
शांति स्थापना कर पुर में फिर मुनि बन जाना हे क्षत्रियवर ! ॥२८॥

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ॥२९॥

मनुजों द्वारा बहुधा मिथ्या दण्ड प्रयोग किया जाता।
निर्दोषी पकड़े जाते अपराधी छूट यहाँ जाता ॥३०॥

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भांति कहा ॥३१॥

जो झुकते न आपके आगे उन राजाओं को नरवर !
अपने वश में करके क्षत्रिय ! मुनि बन जाना तदनन्तर॥३२॥

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ॥३३॥

दुर्जय संगर में दश लाख भटों को जो लेता है जीत।
उससे भी उसकी है परम विजय जो खुद को लेता जीत ॥३४।

आत्मा से ही कर संगर इन बाह्य रणों से है क्या लाभ ?
आत्मा से ही आत्म-विजय कर प्राणी पाता सुख अमिताभ॥३५॥

पांच इन्द्रियां क्रोध मान माया व लोभ मन हैं दुर्जेय !
आत्म-विजय होने पर सर्व विजित हो जाते हैं यह ज्ञेय ॥३६॥

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भाँति कहा ॥३७॥

प्रचुर यज्ञ कर श्रमण ब्राह्मणों को प्रिय भोजन खूब कराकर।
दान भोग कर यज्ञ विहित कर मुनि बन जाना फिर क्षत्रियवर ! ॥३८॥

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा।
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ॥३९॥

जो दश लाख धेनुओं का प्रति मास दान देता द्विज-शेखर।
उसके हित भी संयम ही शुभ हैं न भले वह कुछ भी दे, नर ॥४०॥

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भाँति कहा ।।४१।।

घोराश्रम को छोड़ अन्य आश्रम की इच्छा उचित नहीं है ।
रहकर यहीं रक्त होओ पोषध में, नरवर उचित यही है ।।४२।।

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ।।४३।।

जो कि बाल, मासानन्तर कुश अग्र मात्र भोजन करता है ।
वह स्वाख्यात धर्म की कला षोड़शी भी न प्राप्त करता है ।।४४ ।

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भाँति कहा ।।४५।।

स्वर्ण रजत मणि मुक्ता वसन कांस्य-पात्र वाहन भंडार ।
इनकी वृद्धि करो फिर मुनि बन जाना हे क्षत्रिय-श्रृंगार !।।४६।।

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ।।४७।।

स्वर्ण रजत के गिरि असंख्य कैलाश तुल्य हों लुब्धक-पास ।
फिर भी तृप्त न होता इच्छा है अनन्त जैसे आकाश ।।४८।।

भूमि, शालि, जौ, सोना, पशु ये सभी एक की यहां अरे !
इच्छा पूर्ति हेतु असमर्थ जान कर तप-आचरण करे ।।४९।।

इस प्रकार सुन अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
देवराज ने नमि राजर्षि-प्रवर से फिर इस भाँति कहा ।।५०।।

अभ्युदय बेला में भोग छोड़ते हो नृप ! चित्र अमाप ।
असत-काम की इच्छा से संकल्प प्रताड़ित होंगे आप ।।५१।।

सुनकर के यह अर्थ हेतु कारण से प्रेरित हुए अहा !
नमि राजर्षि-प्रवर ने देवराज से फिर इस भाँति कहा ।।५२।।

शल्य तथा विष तुल्य काम है आशीविष सम है यह काम ।
बिना भोग के चाह मात्र से ही नर पाते दुर्गति-धाम ।।५३।।

नीचे गिरता मनुज क्रोध से, मिले मान से अधम गति ।
दंभ, सुगति-नाशक व लोभ से उभय लोक में भय-प्रगति ।।५४।।

ब्राह्मण रूप छोड़कर इन्द्र रूप में प्रकटित हो शकेन्द्र।
कर वंदना मधुर शब्दों में स्तवना करने लगा सरेन्द्र ॥५५॥

निर्जित किया क्रोध को अहो, मान को किया पराजित है।
अहो, निराकृत की माया को तेरे लोभ वशीकृत है ॥५६॥

अहो! तुम्हारा आर्जव उत्तम, मार्दव तेरा अति उत्तम।
अहो! क्षमा उत्तम है तेरी, लोभमुक्तता उत्तमतम ॥५७॥

यहाँ आप उत्तम हैं भगवन्! आगे भी उत्तम होंगे।
नीरज वन लोकोत्तम सिद्धि-स्थल को शीघ्र प्राप्त होंगे ॥५८॥

यों उत्तम श्रद्धा से शक्र राज-ऋषि की स्तवना करता।
फिर प्रदक्षिणा करते हुए वन्दना पुनः-पुनः करता ॥५९॥

चक्रांकुश लक्षण वाले मुनि के चरणों में वह वन्दन कर।
ललित चपल कुंडल व मुकुट धर इन्द्र गया नभ पथ से उड़कर ॥

साक्षात् शक्र प्रप्रेरित नमि ने नमा लिया निज आत्मा को अब।
संयम में हो गए उपस्थित तजकर गृह पुर मिथिला को अब ॥६१॥

जो संबुद्ध विचक्षण पंडित करते हैं वे इसी प्रकार।
भोगों से होते उपरत ज्यों नमि राजर्षि हुए अविकार ॥६२॥

दशवाँ अध्ययन

द्रुमपत्रक

पका हुआ तरु-पत्र ज्यों कि गिर जाता समय बीतने पर।
त्यों मनुजों का जीवन है, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१॥

ज्यों कुशाग्र-स्थित ओस-बिन्दु की स्वल्प काल स्थिति है सुन्दर।
त्यों मनुजों का जीवन है मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२॥

स्वल्प आयु वाले जीवन में बहुत विघ्न हैं अति दुखकर।
पूर्व कर्म-रज दूर हटा, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३॥

बहुत काल तक सभी प्राणियों को है नर-भव दुर्लभतर।
कर्म विपाक प्रगाढ़ जान मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥४॥

पृथ्वी कायोत्पन्न जीव अधिकाधिक रहता वहाँ अगर।
जान असंख्य काल तक, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥५॥

सलिल-काय-उत्पन्न जीव ज्यादा से ज्यादा रहे अगर।
जान असंख्य काल तक, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥६॥

अग्नि-काय-उत्पन्न जीव अधिकाधिक रहता वहाँ अगर।
जान असंख्य काल तक, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥७॥

वायु-काय-उत्पन्न जीव अधिकाधिक रहता वहाँ अगर।
जान असंख्य काल तक, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥८॥

हरित-काय-उत्पन्न जीव अधिकाधिक रहता वहाँ अगर।
काल दुरन्त अनन्त जान, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥९॥

द्वीन्द्रिय कायोत्पन्न जीव अधिकाधिक रहता वहां अगर।
वह संख्येय काल तक, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१०॥

त्रीन्द्रिय कायोत्पन्न जीव अधिकाधिक रहता वहाँ अगर।
वह संख्येय काल तक, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥११॥

चतुरिन्द्रिय गत जीव वहां ज्यादा से ज्यादा रहे अगर।
वह संख्येय काल तक, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१२॥

पंचेन्द्रिय गत जीव वहाँ ज्यादा से ज्यादा रहे अगर ।
सात-आठ जन्मों तक, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१३॥

देव-नरक-गति-गत प्राणी अधिकाधिक रहता वहाँ अगर ।
एक-एक भव ग्रहण मात्र, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१४॥

यों भव-संसृति में संचरता कर्म शुभाशुभ संचित कर ।
जीव प्रमाद-बहुल है, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१५॥

पा मनुजत्व तथा फिर आर्य देश का मिलना अति दुष्कर ।
बहु नर चोर म्लेच्छ हैं, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१६॥

पा आर्यत्व तथा फिर अहीन पंचेन्द्रियता दुर्लभतर ।
इन्द्रियहीन बहुत हैं, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१७॥

अहीन पंचेन्द्रियता पा फिर उत्तम धर्म-श्रवण दुष्कर ।
कुतीर्थि-सेवक बहु जन हैं, मत कर प्रमाद गौणम ! क्षण-भर ॥१८॥

उत्तम श्रुति मिलने पर भी श्रद्धा का होना दुर्लभतर ।
मिथ्यात्वोपासक जन हैं, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥१९॥

धार्मिक श्रद्धा पा फिर धर्म निभानेवाले दुर्लभ नर ।
काम-गृद्ध बहु जन हैं, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२०॥

जीर्ण रहा तन तेरा फिर धवल हो रहे केश-निकर ।
वह घट रहा श्रोत्र-बल, अतः न कर प्रमाद ! गौतम क्षण-भर ॥२१॥

जीर्ण हो रहा तन तेरा फिर धवल हो रहे केश-निकर ।
वह घट रहा चक्षु-बलः अत, न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२२॥

जीर्ण हो रहा तन तेरा फिर धवल हो रहे केश-निकर ।
वह घट रहा घ्राण बल, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२३॥

जीर्ण हो रहा तन तेरा फिर धवल हो रहे केश-निकर ।
वह घट रहा जीभ-बल, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२४॥

जीर्ण हो रहा तन तेरा फिर धवल हो रहे केश-निकर ।
वह घट रहा स्पर्श-बल, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२५॥

जीर्ण हो रहा तन तेरा फिर धवल हो रहे केश-निकर ।
वह घट रहा, सर्व बल, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२६॥

फोड़ा अरति अजीर्ण विविध आतङ्क स्पर्श करते स्फुटतर।
क्षीण नष्ट हो रहा गात्र, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२७॥

जल से अलिप्त शारद-कमल भाँति निज स्नेह भाव हर कर।
सर्व स्नेह-वर्जित होकर, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२८॥

तू अनगार-वृत्ति हित घर से निकला स्त्री-धन को तजकर।
वान्त भोग फिर से मत पी, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥२९॥

जिन न दीखते आज, एकमत हैं न मार्ग-दर्शक जो नर।
संप्रति नैर्यातृक-पथ है, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३०॥

बान्धव मित्र विपुल संचित धन-राशि और सब कुछ तजकर।
फिर से इनकी खोज न कर, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३१॥

कंटकमय पथ छोड़ विशाल पंथ में आया है चलकर।
दृढ़ निश्चय से उस पर चल, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३२॥

अबल भारवाहक की भाँति चले जाना न विषम पथ पर।
विषम-पथिक पछताता, अतः न कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३३॥

महा सिन्धु को तरकर फिर क्यों ठहर गया तट पर आकर।
पार गमन-हित जल्दी कर, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३४॥

हो आरूढ़ क्षपकश्रेणी पर पहुंचेगा सिद्धि-स्थल पर।
जो शिव क्षेम अनुत्तर है, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३५॥

ग्राम नगर में तू संयत उपशान्त बुद्ध हो विचरण कर।
शान्ति मार्ग को बढ़ा यहाँ, मत कर प्रमाद गौतम ! क्षण-भर ॥३६॥

अर्थ व पद से शोभित सुकथित भगवद् वाणी को सुनकर।
राग-द्वेष को छेद, सिद्धि-गति प्राप्त हुए गौतम गणधर ॥३७॥

ग्यारहवाँ अध्ययन

बहुश्रुत पूजा

जो संयोग-मुक्त अणगार भिक्ष है उसका जो आचार ।
उसे कहूंगा क्रमशः अब तुम मुझे सुनो शिष्यों धर प्यार ॥१॥

स्तब्ध, लुब्ध, अजितेन्द्रिय, विद्याहीन, अविनयी, अति वाचाल ।
जो मानव होता है वह कहलाता है अबहुश्रुत, बाल ॥२॥

पाँच स्थान ये ऐसे हैं जिनसे शिक्षा न प्राप्त होती ।
क्रोध, मान, आलस्य, प्रमाद व रोग मंद करता ज्योति ॥३॥

आठ स्थान ऐसे होते हैं जिनसे कहलाता मुनि शिक्षाशील ।
सदा दान्त फिर हास्य व मर्म-प्रकाशन न करे भिक्षाशील ॥४॥

तथा अशील विशील न हो अति लोलुप क्रोधी जो कि नहीं ।
सदा सत्य-रत जो होता कहलाता शिक्षाशील वही ॥५॥

इन चौदह स्थानों में स्थित संयत कहलाता है अविनीत ।
वह निर्वाण न पा सकता जो विनय-धर्म से है विपरीत ॥६॥

बार-बार जो कुपित बने मुनि तथा करे फिर क्रोध-प्रबन्ध ।
मित्रभाव ठुकराता है जो श्रुत पाकर होता मद-अन्ध ॥७॥

पाप परिक्षेपी है फिर निज मित्रों पर भी करता क्रोध ।
इष्ट-मित्र की भी परोक्ष में निन्दा करता नित्य अबोध ॥८॥

असंबद्ध-भाषी, द्रोही, मात्ती, लोलुप, अजितेन्द्रिय ही ।
असंविभागी, अप्रीतिकर जो कहलाता अविनीत वही ॥९॥

इन पन्द्रह स्थानों से मुनि सुविनीत यहाँ पर कहलाता ।
नमनशील, अचपल, अकुतूहल, जो कि सरलता अपनाता ॥१०॥

तिरस्कार न करनेवाला तथा न करता क्रोध-प्रबन्ध ।
जो कि मित्र के प्रति कृतज्ञ है, श्रुत पा जो न बने मद-अन्ध ॥११॥

कभी न पाप-परिक्षेपी हो, कुपित न हो जो मित्रों पर ।
अप्रिय जन का भी परोक्ष में करे गुणानुवाद मुनिवर ॥१२॥

हाथापाई कलह-विवर्जक होता कुलीन लज्जावान ।
प्रतिसंलीन व बुद्धिमान कहलाता वह विनयी गुणवान ॥१३॥

गुरुकुल में बसनेवाला उपधान-समाधिवान मतिमान ।
प्रियवादी व प्रियंकर मुनि करता है शिक्षा प्राप्त महान ॥१४॥

धवल शंख स्थित दुग्ध उभयतः ज्यों लगता है अति सुन्दर ।
कीर्ति धर्म-श्रुत से त्यों शोभान्वित होता बहुश्रुत मुनिवर ॥१५॥

वेग तथा शीलादि गुणों से कंबोजी कंथक हयवर ।
ज्यों शोभान्वित होता त्यों शोभित होता बहुश्रुत मुनिवर ॥१६॥

नन्दिघोष से युक्त उभयतः चढ़ा हुआ उत्तम हयपर ।
पराक्रमी भट ज्यों अजेय होता है त्यों बहुश्रुत मुनिवर ॥१७॥

साठ वर्ष का अति बलवान हथिनियों से परिवृत कुंजर ।
अपराजित होता है उसी भाँति अपराजित बहुश्रुत नर ॥१८॥

तीक्ष्ण श्रृंग, अति पुष्ट स्कन्ध वाला यूथाधिप वृषभ-प्रवर ।
शोभित होता है त्यों बहुश्रुत भी बनकर आचार्य-प्रवर ॥१९॥

पूर्ण युवा, दुर्जेय तीक्ष्ण दाढ़ोंवाला हरि पशुओं में ज्यों ।
सर्वश्रेष्ठ होता है बहुश्रुत मुनि भी अन्य तीर्थिकों में त्यों ॥२०॥

अप्रतिहत बल योद्धा शंख चक्र व गदा धारक नटवर ।
वासुदेव होता है उसी भाँति होता बहुश्रुत मुनिवर ॥२१॥

महा ऋद्धिशाली चतुरन्त चतुर्दश रत्नाधिप चक्रीश्वर ।
होता है त्यों पूर्व चतुर्दश धारी होता बहुश्रुत मुनिवर ॥२२॥

सहस्रचक्षु पुरन्दर शक्र वज्रपाणी देवाधिप्रवर ।
होता है त्यों ही दैवी संपदाधिपति बहुश्रुत मुनिवर ॥२३॥

तिमिरविनाशक उगता हुआ तेज-संदीप्त यथा दिनकर ।
होता है त्यों ही तप द्वारा तेजस्वी बहुश्रुत मुनिवर ॥२४॥

ग्रहपति चन्द्र पूर्णिमा को नक्षत्र-निकर परिवृत परिपूर्ण ।
होता है त्यों बहुश्रुत मुनि मी सर्व कलाओं से परिपूर्ण ॥२५॥

सामाजिक जन का ज्यों कोष्ठागार विविध धान्यों से पूर्ण ।
ज्यों कि सुरक्षित होता त्यों बहुश्रुत विविध ज्ञान से पूर्ण ॥२६॥

तरु सुदर्शना नामक जम्बू देव अनादृत का आश्रय जो।
सब तरुओं में ज्योंकि श्रेष्ठ है, बहुश्रुत भी सब मुनियों में त्यों ॥२७॥

नीलवन्त से निकल सिन्धु में मिलनेवाली नदी प्रवर।
सब नदियों में सीता ज्योंकि श्रेष्ठ है त्यों बहुश्रुत मुनिवर ॥२८॥

नाना औषधि दीप्त तथा अतिशय महान गिरि है मंदर।
सब गिरियों में उत्तम त्यों सब मुनियों में बहुश्रुत मुनिवर॥२९॥

नाना रत्नों से परिपूर्ण स्वयंभूरमण नाम सागर।
उदधि-श्रेष्ठ अक्षय-जल है त्यों अक्षय श्रुत से बहुश्रुत-धर ॥३०॥

अपराजेय, दुरासद, त्राता, अभय व सिन्धुतुल्य गम्भीर।
विपुल ज्ञान से पूर्ण खपा कर्मों को गए मोक्ष में धीर ॥३१॥

उत्तम अर्थ-गवेषक श्रुत को करे आश्रयण अतः उम्र-भर।
जिससे निज-पर को वह सिद्धि-प्राप्ति झट करा सके बहुश्रुत-धर ॥३२॥

बारहवाँ अध्ययन

हरिकेशबल

श्वपाक-कुल संभूत, जितेन्द्रिय, उत्तम गुणधर मुनिवर एक ।
हरिकेशबल नामका भिक्षु, जिसे था धर्माधर्म विवेक ।।१।।

ईर्या भाषैणाऽऽदान निक्षेपोच्चार समितियों में ।
सावधान था संयत सुसमाहित था नामी यतियों में ।।२।।

मन वच काया से वह गुप्त जितेन्द्रिय था फिर पूर्णतया ।
विप्र यज्ञ-मंडप में भिक्षा लेने हित एकदा गया ।।३।।

जीर्ण उपधि-उपकरण तथा तप से परिशोषित तनवाले ।
मुनि को आते देख, हास्य करते अनार्य द्विज मतवाले ।।४।।

जाति-दर्प से मत्त तथा फिर हिंसक अजितेन्द्रिय वे बाल ।
ब्रह्मचर्य से रहित अज्ञ यों बकने लगे विप्र पंपाल ।।५।।

बड़ी नाक, अधनंगा, काला, पांशु-पिशाच रूप विकराल ।
चिथड़ा डाल गले में कौन आ रहा है वह नर-कंकाल ?।।६।।

अदर्शनीय अधनंगे पांशु-पिशाच सदृश तू कौन अहा !
किस आशा से आया अरे ! चला जा फिर क्यों खड़ा यहाँ ।।७।।

उस महर्षि का अनुकम्पक तिंदुक-तरु वासी यक्ष तदा ।
मुनि के तन में छिपा स्व-तन को फिर यों कहने लगा मुदा ।।८।।

श्रमण ब्रह्मचारी संयत, धन-पचन-परिग्रह-निर्वृत हूं ।
भिक्षा-समय सहज-निष्पन्न अशन-हित यहाँ उपस्थित हूं ।।९।।

खाया भोगा वितरित किया जा रहा प्रभूत अन्न यहां पर ।
भिक्षाजीवी जान तपस्वी को मिल जाए बचा-खुचा फिर ।।१०।।

जो कि एक पाक्षिक यह भोजन बना सिर्फ विप्रों के खातिर ।
ऐसा अन्न-पान हम तुम्हें न देंगे, यहाँ खड़े हो क्यों फिर ?।।११।।

उच्च-निम्न स्थल में आशा से ज्यों बोते हैं बीज कृषक जन ।
इसी भावना से दो मुझे क्षेत्र है करो पुण्य-आराधन ।।१२।।

जहाँ बीज सारे उग जाते वे सब क्षेत्र हमें हैं ज्ञात ।
विद्या-जाति युक्त द्विज ही है पुण्य-क्षेत्र जग में साक्षात ॥१३॥

क्रोध मान वध मृषा अदत्त परिग्रह से होते संश्लिष्ट ।
विद्या-जाति विहीन विप्र वे पाप-क्षेत्र ही है अपकृष्ट ॥१४॥

वेदों को पढ़ अर्थ-अज्ञ तुम सिर्फ गिरा का ढोते भार ।
उच्चावच कुल गमनशील मुनि ही हैं पुण्य-क्षेत्र जग सार ॥१५॥

अध्यापक-गण के विरुद्ध, हम सब के सम्मुख बकता स्पष्ट ।
तुझे न देंगे अन्न-सलिल यह चाहे हो जाये सब नष्ट ॥१६॥

समित-समाहित गुप्ति-गुप्त दमितेन्द्रिय मुझको यह अनवद्य ।
अशन न दोगे तो यज्ञों का लाभ तुम्हें क्या होगा अद्य ? ॥१७॥

उपज्योतिष, अध्यापक, क्षत्र-छात्र कोई है यहाँ अरे !
कंठ पकड़ कर, दंड-फलक से मार हटाए इसे परे ॥१८॥

सुन अध्यापक वचन बहुत से दौड़े उधर कुमार सजोश ।
दंड, बंत, चाबुक से ऋषि को लगे पीटने छात्र सरोष ॥१९॥

भूप कौशलिक की वर-पुत्री भद्रा हन्यमान मुनिको तब ।
देख, शान्त वह करने लगी वहाँ उन क्रुद्ध कुमारों को अब ॥२०॥

देव-प्रेरणा से नृप द्वारा मैं दी गई किन्तु इस ऋषि ने ।
मुझे न चाहा नृप-सुर-इन्द्र-पूज्य है मुझको छोड़ा जिसने ॥२१॥

उग्र तपस्वी दान्त महात्मा ब्रह्मचर्यधारी संयत ने ।
स्वयं कौशलिक पितु द्वारा देने पर मुझे न चाहा इसने ॥२२॥

महानुभाग महायश घोर पराक्रम व्रतधर मुनि अहील की ।
करो न हीला कहीं तेज से दहे न तुमको यह अपील की ॥२३॥

वचन सुभाषित पत्नी भद्रा के सुनकर यक्षों ने सत्वर ।
ऋषि-सेवा के लिए कुमारों को तब गिरा दिया है भू पर ॥२४॥

लगे मारने छात्रों को अब, यक्ष नभस्थित घोर रूप धर ।
रुधिर वमन करते क्षत-विक्षत उन्हें देख भद्रा बोली फिर ॥२५॥

जो अपमान भिक्षु का करते वे नख से गिरि खोद रहे हैं ।
अग्नि बुझाते पैरों से दांतों से लोहा चबा रहे हैं ॥२६॥

उग्र तपस्वी आशीविष ऋषि घोर-पराक्रम-व्रत-अवदात ।
अशन समय ऋषि का वध, शिखि में ज्योंकि शलभ-बलझंपापात ॥२७॥

जीवन-धन-इच्छुक हो यदि तुम तो सब मिल नत-मस्तक बनकर ।
शरण ग्रहो वरना क्रोधित यह विश्व-दहन कर सकता मुनिवर ॥२८॥

पृष्ठ भाग की ओर झुके सिर, बाहु प्रसारित हैं निष्क्रिय सब ।
फटे नेत्र मुख ऊर्ध्व, रुधिर बहता, जिह्वा आँखें निकली अब ॥२९॥

काष्ठभूत लख छात्रों को, स्त्री-सह सविषाद विप्र कहता यों ।
भगवन्, हीलादिक को क्षमा करें, प्रसन्न ऋषि को करता यों ॥३०॥

मूढ़ अज्ञ शिशुओं ने जो हीला की उसे करें अब माफ ।
महाप्रसन्न चित्त ऋषि होते हैं कोप न करते भगवन् ! आप ॥३१॥

मेरे मन में द्वेष न था, न अभी है, होगा फिर न कभी ।
सेवा करते यक्ष अतः ये हुए प्रताड़ित छात्र सभी ॥३२॥

अर्थ-धर्म ज्ञाता हैं भूति-प्रज्ञ हैं कोप न करते आप ।
अतः आपके चरणों की ले रहे शरण सब मिल चुपचाप ॥३३॥

अर्चा करते हैं हम तेरी, तेरे सब कुछ अर्च्य यहाँ पर ।
महाभाग ! नाना व्यंजन-युत अशन शालिमद् खाओ लेकर ॥३४॥

प्रचुर अन्न में से कुछ खाओ अनुग्रहीत करने-हित इसको ।
हाँ भर ली मासिक तप का पारणा किया, ले अशन-सलिल को ॥३५॥

सलिल-सुगंधित, पुष्प, दिव्यधन की वर्षा देवों ने की फिर ।
अहोदान का घोष किया, दुन्दुभि बजाई नभस्थित होकर ॥३६॥

तप की महिमा दीख रही प्रत्यक्ष जाति वैशिष्ट्य न कुछ है ।
श्वपाक सुत हरिकेश भिक्षु की ऐसी महाऋद्धि सचमुच है ॥३७॥

शिखि-आरम्भ व जल से बाह्य शुद्धि क्या मांग रहे हो सद्य ।
विप्रो ! उसे न सम्यग्दर्शन कहते कुशल लोग अनवद्य ॥३८॥

दर्भ, यूप, तृण, काष्ठ, अग्नि, जल-स्पर्श सुवह-सायं करते हो ।
प्राणभूत वधकर तुम मंदबुद्धि अघ पुनः-पुनः करते हो ॥३९॥

यज्ञ करें कैसे प्रवृत्त हों ? जिससे नष्ट कर सकें पाप ।
यक्ष-पूज्य ! संयत ! बतलाएं कुशल-सुइष्ट यज्ञ का माप ॥४०॥

मृषा अदत्त छोड़कर षट्कायिक जीवों का वध तज शान्त ।
परिग्रह, स्त्री, दर्प व माया छोड़ विचरते दान्त नितान्त ॥४१॥

पांच संवरों से संवृत्त शुचि फिर जीवन कांक्षा परिहरता ।
त्यक्त-देह, व्युत्सृष्ट-काय, वर यज्ञ महाविजयी वह करता ॥४२॥

अग्नि कौन-सी, स्थान व कड़छी कंडा ईंधन यहां कौन-सा ?
किस सु-हवन से शिखि-हुत करते शान्तिपाठ फिर भिक्षु कौन-सा? ॥४३॥

तप शिखि, जीव स्थान, शुभ योग कड़छियाँ, तन कंडे, कर्मेंधन ।
संयम शान्तिपाठ में करता ऋषिप्रशस्त यह होम शुद्ध मन ॥४४॥

नद कौन-सा व शान्तितीर्थ फिर, अघरज धोते कहाँ स्नान कर ? ।
तुझसे हम जानना चाहते कहो यक्ष-पूजित संयतवर ॥४५॥

अकलुष-आत्म-प्रसन्न भाव, धर्म-द्रह शान्तितीर्थ ब्रह्मव्रत ।
जहाँ स्नान कर शुद्ध विमल शीतल हो, मैं अघ हरता संतत ॥४६॥

कुशल-दृष्ट यह महा स्नान है, ऋषियों के हित यह प्रशस्ततर ।
विमल शुद्ध उत्तम स्थल प्राप्त हुए महर्षिगण इसमें न्हाकर ॥४७॥

तेरहवाँ अध्ययन

चित्तसंभूत

जाति पराजित होकर निश्चित निदान कर हस्तिनानगर में ।
पद्म-गुल्म से च्यव कर उपजा, ब्रह्मदत्त चूलनी उदर में ।।१।।

कंपिलपुर में जन्मा है संभूत व पुरिमताल में चित्र ।
विशाल श्रेष्ठी सुकुल में, फिर सुन धर्म हुआ, प्रव्रजित पवित्र ।।२।।

कंपिलपुर में हुए इकट्ठे चित्त तथा संभूत उभय जन ।
सुख-दुख कर्म-विपाक परस्पर कहने लगे वहाँ निर्भय बन ।।३।।

महा-ऋद्धि धर महा यशस्वी ब्रह्मदत्त चक्री नर देव ।
अति सम्मान पुरस्सर निज भाई से यों बोला स्वयमेव ।।४।।

हम दोनों भाई अन्योन्य वशानुग अनन्य प्रेमी थे ।
सुखपूर्वक रहते थे तथा परस्पर बड़े हितैषी थे ।।५।।

हम दशार्ण में दास हुए फिर कालिंजर गिरि पर मृग बाल ।
मृत गंगा तट पर हम हंस हुए फिर काशी में चाण्डाल ।।६।।

फिर हम दोनों देवलोक में हुए महर्द्धिक देव सुभग हैं ।
एक दूसरे से यह छट्ठा जन्म हमारा हुआ अलग है ।।७।।

विषयों का चिन्तन कर राजन् ! तुमने किया निदान-प्रयोग ।
उस कर्मोदय विपाक से यह हम दोनों का हुआ वियोग ।।८।।

पूर्व जन्म में सत्य शौचमय कर्म किए जिनका फल सद्य ।
भोग रहा मैं, चित्त ! तुम्हीं क्या भोग रहे वैसा फल अद्य ?।।९।।

सभी सुचीर्ण सफल होता बिन भोगे जीव न होता मुक्त ।
उत्तम अर्थ-काम द्वारा मैं, पुण्य फलों से था संयुक्त ।।१०।।

महानुभाग महर्द्धिक पुण्यवान् संभूत ! समझता निज को ।
वैसा ही तू महाविपुल द्युति-ऋद्धिमान पहचान चित्र को ।।११।।

महा अर्थ अल्पाक्षर वाली गाथा जन-समूह में सुनकर ।
मुनि अर्जित करते हैं यत्न से, जिसे श्रवण कर बना श्रमणवर ।।१२।।

उच्चोदय मधु कर्क मध्य ब्रह्मा व अन्य प्रासाद-सुयोग ।
धन पूरितं, पांचाल वस्तुओं युत, उस घर का कर उपभोग ॥१३॥

नाट्य, गीत, वाद्यों सह नारीजन-परिवृत हो भोगो भोग ।
यह रुचता है मुझे वस्तुतः, दुखकर दीक्षा का दुर्योग ॥१४॥

पूर्व स्नेह वश अनुरागी फिर काम गुणानुरक्त नृपवर से ।
हितानुप्रेक्षी धर्मस्थित मुनि चित्र ने वचन कहा यों फिर से ॥१५॥

गीत विलाप रूप हैं, सब नाटक विडम्बना रूप कहा ।
आभूषण हैं भारभूत, सब कामभोग हैं दुखावहा ॥१६॥

काम-विरत व तपोधन शील-रक्त मुनि को सुख मिलता जैसा ।
दुखद काम ये बाल-प्रिय हैं इनमें सौख्य न मिलता वैसा ॥१७॥

मनुजों में जो अधम श्वपाक जाति में पैदा हुए उभय हम ।
सबके द्वेष-पात्र बन रहते थे श्वपाक बस्ती में नृप ! हम ॥१८॥

कुत्सित कुल में जन्म लिया चांडाल बस्ती में रहे विकल हैं ।
सभी घृणा करते थे, यहां उच्चता श्रेष्ठ पूर्वकृत फल हैं ॥१९॥

महानुभाग महर्द्धिक वही बना अब राजा पुण्य सहित तू ।
छोड़ अशाश्वत भोग, निकल घर से संयम-आराधन-हित तू ॥२०॥

नाशवान इस जीवन में अतिशय शुभ कर्म न जो करता है ।
अविहित-धर्मा मृत्यु-मुख स्थित अत्र-परत्र शोक धरता है ॥२१॥

यथा सिंह मृग को त्यों मृत्यु पकड़ ले जाती नर को आखिर ।
माता-पिता-भाई उसके होते न अंशधर मृत्यु-समय फिर ॥२२॥

ज्ञाति, मित्र, सुत, बान्धव उसके दुख को बँटा न सकते तिलभर ।
स्वयं अकेला दुख अनुभवता, क्योंकि कर्म कर्त्ता का अनुचर ॥२३॥

द्विपद, चतुष्पद, क्षेत्र, गेह; धन, धान्य विवश वह छोड़ सिधाता ।
निजकृत कर्मों को ले साथ सुखद-दुःखद परभव में जाता ॥२४॥

उस निःसार अकेले तन को चिति में शिखि से शीघ्र जलाकर ।
स्त्री सुत परिजन किसी अन्य दाता के पीछे हो जाते फिर ॥२५॥

सजग कर्म, जीवन को मृत्यु-निकट ले जाते, जरा वर्ण को ।
हरती, नृप पांचाल ! वचन सुन मेरा, मत कर प्रचुर कर्म को ॥२६॥

आर्य ! वचन जो कहता मुझसे मैं भी उसे जानता श्रेय ।
भोग संगकर है, पर मेरे जैसों-हित ये हैं दुर्जेय ।।२७।।

चित्र ! हस्तिनापुर में देख चक्रवर्ती अति ऋद्धि-निधान ।
भोगों में हो गृद्ध वहाँ मैंने कर डाला अशुभ निदान ।।२८।।

उसका प्रायश्चित्त न किया उसी का यह ऐसा है कटु फल ।
श्रेष्ठ धर्म को हुआ जानता, भोगों में मूर्च्छित हूँ प्रतिपल ।।२९।।

हुआ देखता स्थल को पंकमग्न गज पहुँच न पाता तट पर ।
काम-गृद्ध हम मुनि पथ का अनुशरण न कर पाते हैं क्षण-भर ।।३०।।

रात्रि-दिवस ये शीघ्र जा रहे मनुज भोग ये नित्य न राजन् !
प्राप्त भोग नरको तजते हैं ज्योंकि क्षीणफल तरु को खगगण ।।३१।।

भोग त्यागने में अशक्त यदि है तो राजन् आर्य कर्म कर ।
प्रजानुकम्पी धर्मस्थित बन जिससे होगा वैक्रेयिक सुर ।।३२।।

भोग-त्याग की बुद्धि न तेरी अति आरंभ परिग्रह में रत ।
संबोधित कर मैंने व्यर्थ प्रलाप किया नृप ! जाता हूँ झट ।।३३।।

ब्रह्मदत्त पांचाल भूप मुनि के वचनों को नहीं मानकर ।
भोग अनुत्तर भोगों को वह नरक अनुत्तर पहुँचा मरकर ।।३४।।

विरत कामना से, उत्कृष्ट चरण तप संयम का पालन कर ।
परम सिद्धिगति में वह पहुँचा चित्त महर्षि महागुण गह्वर ।।३५।।

चौदहवाँ अध्ययन

इषुकारीय

पूर्व जन्म में सुर हो एक यान से च्युत हो कई सिधाए ।
ख्यात पुराण समृद्ध स्वर्गसम, वर इषुकार नगर में आए ॥१॥

पूर्व विहित अवशिष्ट कर्म से वर कुल में उन्पन्न हुए सब ।
संसृति भय से खिन्न, भोग तज जिन-पथ शरणापन्न हुए सब ॥२॥

तत्र पुरोहित पत्नी यशा तथा फिर उभय कुमार मनस्वी ।
देवी कमलावती सुशीला नृप इषुकार विशाल यशस्वी ॥३॥

चित्त मोक्ष की ओर खिच गया, जन्म-मृत्यु-भय त्रस्त हो गए ।
लख मुनि को भव-चक्र छेदने हित वे काम-विरक्त हो गए ॥४॥

स्वकर्मशील पुरोहित के प्रिय उभय सुतों को जातिस्मरण तब ।
हुआ कि जिससे पूर्वाराधित तप संयम को किया स्मरण तब ॥५॥

मनुज देव यौनिक भोगों से विरत हुए वे दृढ़ श्रद्धालु ।
मोक्षाकांक्षी तात-निकट आकर यों कहने लगे कृपालु ॥६॥

तात ! अशाश्वत जीवन, स्वल्प आयु जिसमें बहु विघ्न अनवरत ।
है न गेह में सौख्य, अतः मुनि बनने हित चाहते इजाजत ॥७॥

उन मुनियों से कहने लगा तात यों वचन तपस्या घातक ।
असुतों की होती न सुगति यों वेद-विज्ञ कहते हैं स्नातक ॥८॥

वेद पाठकर ब्रह्म भोज कर नारीगण सह भोग भोग कर ।
पुत्रों को घर-भार सौंप कर फिर बनना वनवासी मुनिवर ॥९॥

आत्म-गुणेन्धन मोहानिल से शोक अग्नि प्रज्वलित अधिक है ।
तप्तभाव, फिर छिन्न हो रहा सुत-वियोग से हृदय अधिक है ॥१०॥

क्रमशः धन भोगों हित अनुनय करते हुए पुरोहित से ।
चिन्तनपूर्वक उभय कुमारों ने ये वाक्य कहे उससे ॥११॥

भोजित विप्र नरक ले जाते, अधीत वेद न होते त्राण ।
कथन आपका कौन मानता ? जब कि न सुत भी होते त्राण ॥१२॥

क्षणिक मात्र सुख, बहुत काल दुख, सुख स्वल्पमान है।
संसृति-मोक्ष विपक्ष भूत ये निश्चित भोग अनर्थ खान है ॥१३॥

काम-अनुपरत मनुज रात-दिन, हो संतप्त भ्रमण करता है।
बन प्रमत्त, पर-हित धन खोज-रक्त वह जरा-मरण वरता है ॥१४॥

यह न पास मेरे है, यह है, यह करना व न करना ऐसे।
बकते नर को हरता काल, प्रमाद किया जाए फिर कैसे ? ॥१५॥

नारीजन सह प्रभूत धन है स्वजन कामगुण भी पर्याप्त।
जिसके खातिर तप करते नर वे सब स्ववश तुम्हें हैं प्राप्त ॥१६॥

धर्म-धुरा वहने में भोग स्वजन धन से क्या है मतलब ?
भिक्षाजीवी अप्रतिबन्ध श्रमण गुणवान बनेंगे अब ॥१७॥

यथा अरणि में अग्नि, दुग्ध में घृत व तिलों में तेल असत है।
त्यों तन में ये जीव, पुत्र ! तन साथ नष्ट होते, अवितथ है ॥१८॥

नित्य अमूर्त भाव होने से इन्द्रिय-ग्राह्य न जीव रहा है।
बन्ध हेतु आश्रव है, संसृति का कारण फिर बन्ध कहा है ॥१९॥

धर्म अज्ञ अवरुध्यमान रक्षित हम मोह वशंगत होकर।
करते रहे पाप अब तक, पर अब न करेंगे निज खोकर ॥२०॥

पीड़ित है यह लोक सर्वतः घिरा हुआ चौतर्फ दुःख है।
वह आ रही अमोघा, ऐसी स्थिति में घर पर हमें न सुख है ॥२१॥

किससे पीड़ित है फिर किससे घिरा हुआ है यह संसार।
किसे कहा है यहाँ अमोघा ? पुत्रो ! चिन्ता मुझे अपार ॥२२॥

मृत्यु-प्रपीड़ित तथा जरा से घिरा हुआ इस जग को जानें।
यहाँ रात्रि को कहा अमोघा, तात ! आप इस प्रकार मानें ॥२३॥

जो-जो रात्रि चली जाती है नहीं लौट कर वह आती है।
अधर्म करने वाले नर की विफल रात्रियाँ हो जाती हैं ॥२४॥

जो-जो रात्रि चली जाती है नहीं लौट कर वह आती है।
धर्म रक्त रहने वाले की सफल रात्रियाँ हो जाती हैं ॥२५॥

पहले घर पर ही सम्यक्त्व और श्रावक व्रत पालन कर।
फिर हम सब दीक्षा लेकर भिक्षा-हित जायेंगे घर-घर ॥२६॥

जिसकी मैत्री हो कृतान्त से शीघ्र पलायन जो कर सकता।
जोकि जानता मैं न मरूँगा, वह कल की आशा धर सकता ॥२७॥

है न अनागत कुछ भी मुनिव्रत आज ले रहे हैं हम जिससे।
श्रद्धाक्षम हो राग छोड़कर जन्म न लेना पड़े कि फिर से ॥२८॥

मुनि बनने का समय आ गया, सुत बिन घर रहना न ठीक है।
तरु की शोभा शाखाओं से, उनके बिन वाशिष्ठि! ठूँठ है ॥२९॥

पंखहीन ज्यों विहग तथा रण में बलहीन भूपति जैसा।
वित्तहीन ज्यों पोत वणिक्, सुतहीन हो गया हूँ मैं वैसा ॥३०॥

रस प्रधान सुसंभृत भोग यथेष्ट मिले हैं तुम्हें प्रचुरतम।
उन्हें खूब भोगें पहले, फिर प्रधान पथ को चुन लेंगे हम ॥३१॥

भोग चुके रस वय भी तजता, जीवन-हित न छोड़ता भोग।
सम्यग सुख-दुख लाभ-अलाभ देख, स्वीकार करूँगा योग ॥३२॥

प्रतिस्रोत-गत जीर्ण हंस ज्यों बन्धुजनों की स्मृति न सताए।
अतः भोग भोगो मेरे सह, भिक्षाचर्या दुखद कहाए ॥३३॥

सर्प केंचुली को तज मुक्त भाग जाता त्यों भोग छोड़कर।
सुत जाते हैं, क्यों न साथ हो लूं, क्यों रहूं अकेला घरपर ? ॥३४॥

अबल जाल को रोहित मत्स्य काटता झट, त्यों तज भोगों को।
धोरी, धीर, प्रधान तपस्वी, स्वीकरते भिक्षाचर्या को ॥३५॥

क्रौंच हंस ज्यों विस्तृत जाल छेद उड़ जाते त्यों सुत पतिवर।
जाते हैं तो क्यों न साथ हो लूं क्यों रहूँ अकेली घरपर ? ॥३६॥

स-सुत स-दार पुरोहित भोग छोड़ दीक्षित हो गये निसुन अब।
नृप को विपुल वित्तग्राही लख, रानी पुनः-पुनः कहती तब ॥३७॥

वान्ताशी नर नहीं प्रशंसा पाता ऐसा स्पष्ट ज्ञात है।
विप्रत्यक्त धन पाने की इच्छा रखते हो बुरी बात है ॥३८॥

सारा विश्व तथा सारा धन तेरे वश हो जाए फिर भी।
वह पर्याप्त न होगा, तेरी रक्षा कर सकता न कभी भी ॥३९॥

यदा मरोगे तदा रम्य भोगों को तजना होगा भूप!।
त्राणभत है एक धर्म ही अन्य न कोई त्राणस्वरूप ॥४०॥

पंजर-स्थित विहगी ज्यों मुझे न सुख है अतः स्नेह को तजकर
मुनिव्रत लूँगी सरल अकिंचन निरारंभ व निरामिष बनकर ।।४१।।

ज्यों दवाग्नि से वन में जलते हुए जन्तुओं को संपेख ।
राग दोष वश अन्य जन्तु गण प्रमुदित होते उनको देख ।।४२।।

त्यों हम कामभोग मूर्च्छित बन मूढ़ अज्ञ इतना न समझते ।
रागद्वेष अग्नि में सारा विश्व जल रहा किन्तु न लखते ।।४३।।

वर भोगों को भोग, उन्हें तज अप्रतिबन्ध पवन ज्यों फिर ।
वे प्रसन्नता पूर्वक विहगों-भाँति स्वतन्त्र विचरते चिर ।।४४।।

भोग हस्तगत इन्हें सुरक्षित रखने पर भी है चंचलतर ।
भोग-गृद्ध हम आर्य ! किन्तु वैसे होंगे जैसे भृगु-परिकर ।।४५।।

आमिष सहित गीध पर विहग झपटते, न निरामिष पर देख ।
आमिष को अब छोड़ निरामिष होकर विचरूँगी सविवेक ।।४६।।

गृध्रोपम संसृतिवर्धक इन भोगों को मानव पहचान ।
गरुड़-समीप साँप ज्यों इनसे शंकित होकर चले सुजान ।।४७।।

ज्यों हाथी बन्धन को तोड़ चला जाता स्वस्थान, तथ्य है ।
नृप इषुकार हमें त्यों शिव में जाना है यह सुना पथ्य है ।।४८।।

राजा-रानी विपुल राज्य फिर दुष्त्यज भोगों को झट छोड़ ।
निर्विषयी निःस्नेह निरामिष निष्परिग्रही हुए सिरमोर ।।४९।।

सम्यग् जान धर्म को वे तज आकर्षक सब भोग-विलास ।
यथाख्यात तप घोर ग्रहण कर, करते घोर पराक्रम खास ।।५०।।

यों क्रमशः वे होकर बुद्ध व धर्मपरायण बने सभी ।
जन्म-मरण भय से उद्विग्न, दुखान्त-खोज में लगे सभी ।।५१।।

वीतराग शासन में पूर्व भावना से भावित होकर ।
स्वल्पकाल में ही दुखमुक्त बने हैं सब अघ-मल धोकर ।।५२।।

राजा राणी विप्र पुरोहित तथा ब्राह्मणी दोनों पुत्र ।
छहों जीव परिनिर्वृत हुए यहाँ ऐसा यह कहता सूत्र ।।५३।।

पन्द्रहवाँ अध्ययन

सभिक्षु

धर्म धार मुनिव्रत लूंगा, अनिदान, सहित, जो ऋजुकृत ही
परिचय विषय-कामना त्यागी, अज्ञातैषी भिक्षु वही ॥१॥

निशि-अविहारी भिक्षाजीवी आगम-विद् निज रक्षक ही।
समदर्शी जित्-परिषह प्राज्ञ, न कहीं गृद्ध हो भिक्षु वही ॥२॥

वध, कटु वच को जान कर्मफल, धीर, श्रेष्ठ, संवृत नित ही।
हर्ष, विषाद-रहित हो सब कुछ जो सहता है भिक्षु वही ॥३॥

मिले प्रान्त शयनासन, दंश-मशक-शीतोष्ण त्रास कब ही।
सह कर भी जो हर्ष विषाद रहित होता है, भिक्षु वही ॥४॥

जो वन्दन-पूजा-सत्कार-प्रशंसा कामी बने नहीं।
संयत, सुव्रत, आत्म-गवेषक, सहित, तपस्वी भिक्षु वही ॥५॥

संयम जाए छूट, मोह बँध जाए मिलन-मात्र से ही।
उस स्त्री, नर का संग, कुतूहल तजे तपस्वी भिक्षु वही ॥६॥

छिन्न, दंड, स्वर, गगन, अंग, लक्षण व स्वप्न, भू, वास्तु कही।
स्वर विज्ञानादिक से जीवन-यापन न करे भिक्षु वही ॥७॥

वमन, विरेचन, स्नान. वैद्यचिन्ता व मंत्र मूलादिक ही।
आतुर-शरण, धूमनेत्रादि चिकित्सा छोड़े भिक्षु वही ॥८॥

क्षत्रिय, राजपुत्र, गण, विप्र, उग्र, भौगिक या शिल्पिक ही।
दोष जानकर इनकी पूजा श्लाघा न करे भिक्षु वही ॥९॥

दीक्षा के पहले या पीछे जो परिचित हैं गृहिजन ही।
इहलौकिक फल हित उनका परिचय न करे जो भिक्षु वही ॥१०॥

शयनासन, भोजन, जल, खाद्य-स्वाद्य है विविध प्रकार कहीं।
न दे, निषेध करे, उस स्थिति में कुपित न हो जो भिक्षु वही ॥११॥

गृही-गेह से विविध अशन-जल, खाद्य-स्वाद्य कर प्राप्त सही।
आशीर्वाद न दे त्रियोग से, संवृत होता भिक्षु वही ॥१२॥

आयामक, सौवीर, यवोदन, शीत यवोदक नीरस ही ।
मिलने पर होले न, प्रान्त कुल में जाए जो भिक्षु वही ।।१३।।

सुर नर तिर्यञ्चों के अमित भयंकर रौद्र व अद्भुत ही ।
विविध शब्द सुनकर भी न डरे, होता जग में भिक्षु वही ।।१४।।

विविध वाद लख, कोविद, प्राज्ञ रहे मुनियों के साथ यहीं ।
जित्परिषह, समदर्शी, शान्त, करे अपमान न, भिक्षु वही ।।१५।।

अशिल्प-जीवी, मुक्त, अमित्र, जितेन्द्रिय, गेह छोड़कर ही ।
मंद-कषाय स्वल्प-लघु भुग् एकाकी विचरे भिक्षु वही ।।१६।।

सोलहवाँ अध्ययन

ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान

प्रज्ञापक आचार्यों ने यों कहा, सुना मैंने आयुष्मन् !
ब्रह्मचर्य सुसमाधि स्थान दश, स्थविरों ने बतलाए शुभमन ।।१।।

जिन्हें श्रवण कर निश्चय कर, संयम-संवर-सुसमाधि बहुत हो ।
विचरे मुनि नित गुप्त ब्रह्मचारी, गुप्तेन्द्रिय अप्रमत्त हो ।।२।।

कहे कौन से ? वे दस ब्रह्मचर्य सुसमाधि स्थान महा ।
जिन-प्रवचन में निश्चय स्थविर भदन्तों ने है जिन्हें कहा ।।३।।

जिन्हें श्रवणकर निश्चयकर संयम-संवर-सुसमाधि बहुल हो ।
विचरे मुनि नित गुप्त ब्रह्मचारी गुप्तेन्द्रिय अप्रमत्त हो ।।४।।

ये हैं वे दस ब्रह्मचर्य सुसमाधि स्थान अति विशद यहां ।
जिन-प्रवचन में निश्चय गणधर स्थविरों ने है जिन्हें कहा ।।५।।

उन्हें श्रवण कर निश्चय कर संयम-संवर-सुसमाधि बहुल हो ।
विचरे मुनि नित गुप्त ब्रह्मचारी गुप्तेन्द्रिय अप्रमत्त हो ।।६।।

यथा-नित्य एकान्त शयन-आसन-सेवी होता निर्ग्रन्थ ।
स्त्री-पशु- पंडक सहित शयन आसन का सेवन न करे संत ।।७।।

यह क्यों ? तब आचार्य कह रहे, स्त्री-पशु-पंडक युक्त जो स्थान ।
सेवन करने वाले मुनि के ब्रह्मचर्य व्रत में पहचान ।।८।।

शंका कांक्षा विचिकित्सा होती या होता संयम-भेद ।
या उन्माद व चिरकालिक रोगातङ्कों से होता खेद ।।९।।

या कि केवली-कथित धर्म से हो जाता वह भ्रष्ट स्वतः ।
स्त्री-पशु-पंडक युक्त स्थान का सेवन न करे भिक्षु अतः ।।१०।।

जो कि स्त्रियों के बीच न करता कथा, वही निर्ग्रन्थ महान ।
यह क्यों ? तब आचार्य कह रहे इससे ब्रह्मचर्य में जान ।।११।।

शंका कांक्षा विचिकित्सा होती या होता संयम-नाश ।
या उन्माद व चिरकालिक रोगातङ्कों से पाता त्रास ।।१२।।

या कि केवली-कथित धर्म से हो जाता है भ्रष्ट स्वतः ।
केवल ललनाओं के बीच न कथा करे निर्ग्रन्थ अतः ॥१३॥

स्त्री सह एकासन पर जो न बैठता वह निर्ग्रन्थ महान ।
यह क्यों ? तब आचार्य कह रहे इससे ब्रह्मचर्य में जान ॥१४॥

शंका कांक्षा विचिकित्सा होती फिर होता संयम-भेद ।
या उन्माद व चिरकालिक रोगातङ्कों से होता खेद ॥१५॥

या केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से हो जाता परिभ्रष्ट स्वतः ।
नारीगण के साथ न एकासन पर बैठे संत अतः ॥१६॥

रम्य मनोहर नारि-इन्द्रियों को न देखता देकर ध्यान ।
यह क्यों ? तब आचार्य कह रहे इससे ब्रह्मचर्य में जान ॥१७॥

शंका कांक्षा विचिकित्सा होती या होता संयम-नाश
या उन्माद व चिरकालिक आतङ्क रोग हो जाता खास ॥१८॥

या केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से होता भ्रष्ट अतः निर्ग्रन्थ
रम्य मनोहर नारि-इन्द्रियों को न ध्यान धर देखे संत ॥१९॥

कुड्य, दुष्य, भित्यन्तर से कूजन, रोदन व हास्य, गर्जन
क्रन्दन, गीत, विलाप आदि शब्दों को न सुने, वही श्रमण ॥२०॥

यह क्यों ? ऐसा पूछे जाने पर कहते आचार्य महान ।
इन शब्दों को सुनने से ही ब्रह्मचर्य व्रत में पहचान ॥२१॥

शंका कांक्षा विचिकित्सा होती फिर होता संयम-नाश ।
या उन्माद व चिरकालिक आतङ्क रोग हो जाता खास ॥२२॥

या कि केवली-कथित धर्म से हो जाता है भ्रष्ट स्वतः ।
कभी नहीं उपरोक्त नारि शब्दों को साधक सुने अतः ॥२३॥

पूर्व-भुक्त, रति या क्रीडा को याद न करे, श्रमण मतिमान ।
यह क्यों ? तब गुरुवर कहते हैं इनसे ब्रह्मचर्य में जान ॥२४॥

शंका कांक्षा विचिकित्सा होती फिर होता संयम-नाश ।
या उन्माद व चिरकालिक रोगातङ्कों से पाता त्रास ॥२५॥

या कि केवली-कथित धर्म से हो जाता परिभ्रष्ट स्वतः ।
पूर्व-भक्त रति क्रीडाओं की साधक याद न करे अतः ॥२६॥

प्रणीत भोजन नहीं करे जो कहलाता निर्ग्रन्थ महान।
यह क्यों ? तब गुरुवर कहते हैं इससे ब्रह्मचर्य में जान ॥२७॥

शंका कांक्षा विचिकित्सा होती या होता संयम-नाश।
या उन्माद व चिरकालिक आतङ्क रोग हो जाता खास ॥२८॥

या केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से हो जाता परिभ्रष्ट स्वतः।
प्रणीत भोजन कभी नहीं खाए साधक निर्ग्रन्थ अतः ॥२९॥

जो प्रमाण से अधिक नहीं खाता-पीता वह श्रमण महान।
यह क्यों ? तब गुरुवर कहते हैं इससे ब्रह्मचर्य में जान ॥३०॥

शंका कांक्षा विचिकित्सा होती या होता संयम-नाश।
या उन्माद व चिरकालिक आतङ्क रोग होता है खास ॥३१॥

या कि केवली-कथित धर्म से हो जाता है भ्रष्ट स्वतः।
शास्त्र-विहित मात्रा से अधिक न खाए-पीए श्रमण अतः ॥३२॥

गात्र-विभूषा न करे जो वह कहलाता निर्ग्रन्थ सुजान।
यह क्यों ? ऐसा पूछे जाने पर कहते आचार्य महान ॥३३॥

गात्र-विभूषा से स्त्रीजन से अभिलषणीय बने मतिमान।
नारि-जन-अभिलषित ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में जान ॥३४॥

शंका कांक्षा विचिकित्सा होती या होता संयम-नाश।
या उन्माद व चिरकालिक आतङ्क रोग हो जाता खास ॥३५॥

या केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से हो जाता है भ्रष्ट स्वतः।
तन की शोभा और विभूषा करे नहीं निर्ग्रन्थ अतः ॥३६॥

स्पर्श, गंध, रस, रूप, शब्द में गृद्ध न हो, वह श्रमण महान।
यह क्यों ? तब गुरुवर कहते हैं इससे ब्रह्मचर्य में जान ॥३७॥

शंका कांक्षा विचिकित्सा होती या होता संयम-नाश।
या उन्माद व चिरकालिक आतङ्क रोग हो जाता खास ॥३८॥

या केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से हो जाता है भ्रष्ट स्वतः।
स्पर्श, गंध, रस, रूप, शब्द में गृद्ध न साधक बने अतः ॥३९॥

अन्तिम दसवां ब्रह्मचर्य सुसमाधि-स्थान यह कहा तथा।
इसी विषय के श्लोक और भी यहां कहे हैं, सुनो यथा ॥४०॥

अनाकीर्ण एकान्त तथा नारीजन से जो विरहित स्थान।
ब्रह्मचर्य-रक्षा हित ऐसे स्थल में रहे भिक्षु गुणवान ।।४१।।

काम-राग पनपानेवाली मन आल्हादकरी विकथा।
ब्रह्मचर्य-रत साधक ऐसी छोड़े संतत नारि-कथा ।।४२।।

बार-बार नारि सह वार्तालाप-विवर्जन करे सदा।
ब्रह्मचर्य-रत साधक स्त्री के साथ न परिचय करे सदा ।।४३।।

प्रेक्षित चारुल्लपित अंग-प्रत्यंग व नारि के संस्थान।
चक्षु-ग्राह्य विषयों पर ब्रह्मचर्य-रत श्रमण नहीं दे ध्यान ।।४४।।

नारी कूजन-रोदन-गर्जन-क्रन्दन-हास्य, मधुर संगीत।
श्रोत-ग्राह्य विषयों को छोड़े ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु पुनीत ।।४५।।

स्त्री-सह क्रीड़ा, हास्य, दर्प, आकस्मिक त्रास व रतिका अनुभव।
हुआ, उसे अनुचिन्तन न करे ब्रह्मचर्य में रत मुनि-पुंगव ।।४६।।

प्रणीत भोजन-पान शीघ्र मदवर्धक होता है यों जान।
लिए सदा के ऐसा भोजन तजे शील-रत श्रमण महान ।।४७।।

जीवन-यापन हित-मित, लब्ध अशन निर्दोष समय पर खाए।
ब्रह्मचर्य-रत स्वस्थ चित्तवाला मात्रा से अधिक न खाए ।।४८।।

ब्रह्मचर्य-रत साधक तजे विभूषा तन परिमंडन भी।
श्रृंगारार्थ न धारण करे, केश, दाढी, नख आदि कभी ।।४९।।

पांच प्रकार काम-गुण हैं जो शब्द रूप रस गंध स्पर्श।
इन्हें सदा के लिए छोड़ दे, साधक श्रमण मुमुक्षु सहर्ष ।।५०।।

स्त्रीजन से आकीर्ण गेह फिर तथा मनोरम नारि-कथा।
नारी-गण का परिचय, नारी-इन्द्रिय-दर्शन तूर्य तथा ।।५१।।

कूजन, रोदन, हास्य, गीत का श्रवण भुक्तासित की याद।
प्रणीत भोजन-पान प्रमाण-अधिक भोजन करता उन्माद ।।५२।।

देह सजाने की इच्छा फिर है ये दुर्जय काम व भोग।
आत्म-गवेषी नर के लिए, तालपुट विष सम इनका योग ।।५३।।

लिए सदा के दुर्जय काम व भोगों को छोड़े पहचान।
शंकास्पद सब स्थान तजे, प्रणिधानवान साधक गुणवान ।।५४।।

धर्म-पथिक धृतिमान तथा फिर धर्माराम-रक्त मुनि दान्त ।
ब्रह्मचर्य सुसमाहित धर्म-बगीचे में विचरे उपशान्त ॥५५॥

सुर, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर प्रणाम न करते ।
दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत पालक के चरणों में सिर धरते ॥५६॥

जिन-देशित यह धर्म नित्य है शाश्वत है ध्रुव है इससे ।
सिद्ध अनेक हुए, होते हैं, होंगे मैं कहता तुमसे ॥५७॥

सतरहवाँ अध्ययन

पापश्रमणीय नामक

धर्म श्रवण कर विनय युक्त मुनि दुर्लभ बोधिलाभ को पाकर ।
पहले दीक्षित बन फिर पीछे फिरता स्वच्छन्दता अपनाकर ॥१॥

दृढ़ शय्या प्रावरण, अन्न जल भी मिल जाता है आयुष्मन ।
वर्तमान ज्ञाता हूँ वह कहता क्यों ? ज्ञान पढ़ूं फिर भगवन ॥२॥

दीक्षा लेकर फिर जो निद्रा बार-बार लेता मुनिजन ।
खा पीकर सुख से सोजाता वह कहलाता पाप श्रमण ॥३॥

उपाध्याय आचार्यों से जो विनय व श्रुत का ले शिक्षण ।
अज्ञ उन्हीं की निन्दा करता वह कहलाता पाप श्रमण ॥४॥

उपाध्याय आचार्यों की न करे चिन्ता, अभिमानी बन ।
सम्यग् सेवा इज्जत न करे, वह कहलाता पाप श्रमण ॥५॥

हरित बीज प्राणी आदिक का जो करता है संमर्दन ।
असंयमी हो संयत माने, वह कहलाता पाप श्रमण ॥६॥

पैर पोछने का कंबल व बिछोना, पाट, पीठ आसन ।
इन पर बिना प्रमार्जन किए बैठता है वह पाप श्रमण ॥७॥

बारबार करता प्रमाद चलता द्रुत गति से क्रोधित बन ।
प्राणी गण को लाँघ चले जो वह कहलाता पाप श्रमण ॥८॥

जहाँ कहीं पद कंबल रखे, करे प्रमत्त हो प्रतिलेखन ।
इस प्रकार प्रतिलेखन में असजग रहता वह पाप श्रमण ॥९॥

बातें सुनकर असावधानी से करता जो प्रति लेखन ।
तिरस्कार जो गुरु का करता वह कहलाता पाप श्रमण ॥१०॥

स्तब्ध लुब्ध वाचाल व मायी अनियन्त्रित मन इन्द्रिय गण ।
असंविभागी प्रेम न रखने वाला होता पाप श्रमण ॥११॥

फिर से शान्त विवाद जगाए आत्म बुद्धि का करे हनन ।
असदा चारी कलह कदाग्रह-रत होता जो पाप श्रमण ॥१२॥

बिना प्रयोजन इधर-उधर फिरता व बैठता अस्थिर बन।
आसन विधि में जो कि असावधान होता वह पापश्रमण ॥१३॥

स-रज पाँव सो जाए जो फिर करे न शय्या प्रतिलेखन।
शयन विषय में जो कि असावधान है वह है पापश्रमण ॥१४॥

बार-बार दधि-दुग्ध विकृतियों का करता है जो भोजन।
और तपस्या में अरक्त है वह पाप कहलाता पापश्रमण ॥१५॥

सूर्य उदय से सूर्य अस्त तक खाता रहता है क्षण-क्षण।
प्रेरित-प्रतिप्रेरित होता है वह कहलाता पापश्रमण ॥१६॥

छोड़ सुगुरु को अन्य संप्रदायों में जाता दुराचरण।
षन्मासान्तर गच्छ बदलता वह कहलाता पापश्रमण ॥१७॥

निज गृह को तज अपर घरों में व्यापृत होता है मुनिजन।
जो कि शुभाशुभ बता धनार्जन करता है वह पापश्रमण ॥१८॥

सामुदायिकी भिक्षा तज निज ज्ञाति जनों के घर पर खाता।
जो कि बैठता गृहि-शय्यापर वह मुनि पाप श्रमण कहलाता ॥१९॥

पांच कुशील-असंवृत, साधु वेष धर, मुनियों में निम्न स्तर।
अत्र-परत्र न वह कुछ होता, होता विष ज्यों निंद्य यहाँ पर ॥२०॥

इन दोषों को सदा तजे, जो मुनियों में सुव्रत कहलाता।
यहाँ सुधा सम पूजित वह लोकद्वय आराधन कर पाता ॥२१॥

अठारहवाँ अध्ययन

संजयीय

था कांपिल्य नगर में संजय नृप, बल-वाहन से सम्पन्न ।
एक दिवस वह गया शिकार खेलने खातिर प्रमुदित मन ॥१॥

हय-गज-रथ-आरूढ़ महान सैनिकों द्वारा परिवृत था ।
और पदाति चमू से चारों ओर भूपति वेष्टित था ॥२॥

कांपिलपुर-केसर उपवन में सुभटों द्वारा क्षिप्त मृगों को ।
रस-मूर्छित, हय चढ़, नृप मार रहा था खिन्न सभीत मृगों को ॥३॥

उस केसर उपवन में एक तपोधन मुनि अनगार महान ।
वे स्वाध्याय-ध्यान में लीन, ध्या रहे थे वे धर्म-ध्यान ॥४॥

लताकीर्ण-मंडप में ध्यान ध्या रहे क्षपिताश्रव अनगार ।
उनके पार्श्व-स्थित हिरणों पर किए भूप ने शर प्रहार ॥५॥

हयारूढ़ वह शीघ्र वहाँ आ पहले मृत हिरणों को देखा ।
उसी स्थान पर फिर उस नृप ने ध्यान स्थित मुनिवर को देखा ॥६॥

मुनि को देख हुआ भय-भ्रान्त, भूप ने सोचा मैंने नाहक ।
आहत किया श्रमण को, मैं हूँ भाग्यहीन, रसलोलुप, घातक ॥७॥

हय को छोड़, विनयपूर्वक वन्दन, मुनि को नृप करता, कहता ।
भगवन् क्षमा करे अपराध हमारा, यह यों अनुनय करता ॥८॥

वे भगवान् मौन पूर्वक सद् ध्यान-लीन थे अतः न उत्तर ।
दिया उन्होंने, इससे नृप हो गया भयाकुल और अधिकतर ॥९॥

भगवन् ! मैं संजय नृप हूँ मेरे से बोलें कृपावतार !
क्योंकि तेज से कोटि नरों को करता भस्म कुपित अनगार ॥१०॥

पार्थिव ! तुझे अभय है तू भी अभय प्रदाता बन सत्वर ।
क्यों अनित्य इस जीवलोक में, हिंसासक्त बना नरवर ॥११॥

सब कुछ छोड़ यहाँ परवश जाना ही होगा तुम्हें यदा ।
क्यों अनित्य इस जीवलोक में राज्य-मुग्ध हो रहा तदा ॥१२॥

जहाँ मोह तू करता है राजन् ! वह जीवन, रूप-रुचिरता।
विद्युत-चमत्कार सम चंचल, परभव हित को क्यों न समझता ॥१३॥

स्त्रियाँ, पुत्र, फिर बान्धव, मित्र आदि जो यहाँ स्वजन कहलाते।
जीवित नर के सह जीते हैं किन्तु न मृत के पीछे जाते ॥१४॥

परम दुखित हो मृतक पिता को श्मशान ले जाते हैं सुतवर।
पितु भी मृत, सुत बन्धुजनों को, अतः समाचर तप तू नरवर ॥१५॥

मरने के पश्चात् भूप ! अर्जित धन, रक्षित स्त्री गण को।
हृष्ट, तुष्ट व अलंकृत हो, नर अपर भोगते हैं उनको ॥१६॥

जो सुखकर या दुखकर कर्म किया है उसको लेकर साथ।
परभव में जाता एकाकी सब कुछ छोड़ यहाँ नरनाथ ! ॥१७॥

उस अनगार श्रमण से अति आदर पूर्वक सुन धर्म महान।
संसृति से उद्विग्न हुआ संजय नृप मोक्ष-इच्छु गुणवान ॥१८॥

गर्दभालि भगवान्, श्रमण के पास हुआ दीक्षित तत्काल।
राज्य छोड़ कर जिन शासन में साधु बना संजय भूपाल ॥१९॥

राष्ट्र छोड़ प्रव्रजित एक क्षत्रिय मुनि कहता संजय से यों।
दीख रही आकृति प्रसन्न ज्यों मन भी तेरा है प्रसन्न त्यों ॥२०॥

क्या है नाम व गोत्र तथा किस लिए बने हो माहन तुम ?
किस प्रकार गुरु-सेवा करते, किस प्रकार हो विनयी तुम ॥२१॥

श्रमण ! नाम से मैं हूँ संजय तथा गोत्र से गौतम, आर्य !
विद्याचरण-पारगामी हैं मेरे गर्दभालि आचार्य ॥२२॥

क्रिया, अक्रिया, विनय और अज्ञानवाद जो मुने ! कहाते।
इन चारों द्वारा एकान्त-तत्त्ववादी क्या-क्या बतलाते ? ॥२३॥

विद्याचरण युक्त जो सचवादी फिर सत्य पराक्रमवान।
शान्त ज्ञात-वंशीय तत्त्वविद् ने निम्नोक्त कहा, मतिमान ॥२४॥

पाप कर्म करने वाले नर घोर नरक में जाते हैं।
आर्य धर्म करने वाले नर, दिव्य देव गति पाते हैं ॥२५॥

जो भी कहा उन्होंने कपट पूर्ण है, मिथ्या वचन, निरर्थक।
उनसे बचकर रहता हूँ चलता संयत में यत्ना पूर्वक ॥२६॥

जान लिए मैंने सब हैं वे मिथ्यादृष्टि अनार्य तथा।
परभव-विद्यमानता में आत्मा का सम्यक् मुझे पता ॥२७॥

मैं था महाप्राण में द्युतिवाला सुर वर्ष शतोपम पूर्ण।
माना जाता यहाँ, वहाँ त्यों पल्य सागरोपम-परिपूर्ण ॥२८॥

ब्रह्म लोक से च्युत हो, मनुज लोक में आया हूँ पहचान।
ज्यों अपना आयुष्य जानता, त्यों औरों का भी मतिमान ॥२९॥

नाना रुचि, अभिप्राय व सभी अनर्थों को छोड़े संयत।
इस विद्या के पथ पर तेरा हो संचरण श्रमण! संतत ॥३०॥

सपाप प्रश्नों और गृहस्थ मंत्रणाओं से रहता दूर।
निशि-दिन धर्मोद्यत रहता, यह समझ करो तुम तप भरपूर ॥३१॥

शुद्ध चित्त से जो तुम मुझे पूछते हो आयुष्य विषय में।
उसे बुद्ध ने प्रकट किया है विद्यमान वह जिन-शासन में ॥३२॥

छोड़ अक्रियावाद, करे रुचि क्रियावाद में धीर प्रवर।
सम्यक्-दर्शन से संयुत हो, धर्माचरण करे दुष्कर ॥३३॥

अर्थ-धर्म से उपशोभित इस पावन सदुपदेश को सुनकर।
दीक्षित हुए भरत नृप, भारतवर्ष, कामभोगों को तजकर ॥३४॥

सागरान्त भारत-भू छोड़, सगर चक्री भी गुण-संभृत।
तज संपूर्ण ऋद्धि को, संयम पाल हुए हैं परिनिर्वृत ॥३५॥

महा यशस्वी तथा महर्द्धिक मघवा चक्रीश्वर ने सर्व।
भारतवर्ष छोड़ कर दीक्षा ली, फिर मुक्त बने गत गर्व ॥३६॥

मानवेन्द्र व महर्द्धिक चक्रवर्ती चौथा जो सनत्कुमार।
सुत को राज्य सौंप कर, उसने उग्र तपस्या की स्वीकार ॥३७॥

विश्व शान्तिकारक व महर्द्धिक, चक्री शान्तिनाथ नामी।
वे भी भारतवर्ष छोड़कर हुए अनुत्तर गति गामी ॥३८॥

इक्ष्वाकु नृपति श्रेष्ठ, कुन्थु नामक नर-इन्द्र हुए धृतिमान।
अति विख्यात कीर्ति वाले पा गए अनुत्तर-मोक्ष स्थान ॥३९॥

सागरान्त भारत भू छोड़ नरेश्वर अर नामक नामी।
नीरज होकर वे भी सत्वर हुए अनुत्तर गति गामी ॥४०॥

विपुल राज्य फिर सेना, वाहन, उत्तम भोगों को तजकर।।
महापद्म चक्री ने भी तप का आचरण किया सुन्दर ।।४१।।

अरि-मद-मर्दन एक-छत्र, पृथ्वी पर करके राज्य महान ।
हरिषेणाऽभिध मनुजाधिप ने प्राप्त किया वर मोक्ष-स्थान ।।४२।।

एक हजार नृपों सह जय नामक चक्री वैभव तजकर ।
जिन-भाषित दम का आचरण किया, फिर मुक्त बने नरवर ।।४३।।

प्रमुदित-राज्य, दशार्ण देश का छोड़, दशार्णभद्र नृपवर ।
साक्षात्-शक्र-प्रप्रेरित घर से निकल बना, वह श्रमण प्रवर ।।४४।।

करकंडू भूपति कलिंग में द्विमुख भूप पांचाल देश में ।
नमि नृप हुआ विदेह देश में नग्गति नृप गांधार देश में ।।४५।।

ये नृप वृषभ सभी अपने पुत्रों को राज्य-भार देकर ।
जिन शासन में हुए प्रव्रजित श्रमण-धर्म में नित तत्पर ।।४६।।

उद्रायण सौवीर, राजवृष, सर्व राज्य वैभव तजकर ।
दीक्षा ले, मुनिवृत्ति पाल कर, उत्तम गति पाए सत्वर ।।४७।।

त्यों ही काशी नृप ने श्रेय सत्य-हित किया पराक्रम घोर ।
कर्म महावन का उन्मूलन किया, भोग, वैभव को छोड़ ।।४८।।

त्यों ही महा यशस्वी विमल कीर्ति वाले नृप विजय प्रधान ।
गुण समृद्ध राज्य तज, जिनशासन में दीक्षित हुए महान ।।४९।।

त्यों फिर अव्याक्षिप्त चित्त से उग्र तपस्या कर धृतिमान ।
महाबलाभिध, राज ऋषीश्वर पाए सिर दे, शीर्ष-स्थान ।।५०।।

कुहेतुओं से नर उन्मत्त भाँति कैसे चल सकते भू पर ।
इस विशेषता से वे दीक्षित हुए वीर दृढ़ पराक्रमी नर ।।५१।।

अतीव युक्ति-युक्त यह मैंने बात कही है सत्य-उजागर ।
तिरे तिरेंगे तिरते इसके द्वारा कई मनुज भव-सागर ।।५२।।

अहेतुवादों में अपने को धीर पुरुष किस तरह लगाए ।
सब संगों से मुक्त, कर्म-रज विरहित होकर सिद्ध कहाए ।।५३।।

उन्नीसवाँ अध्ययन

मृगापुत्रीय

कानन उद्यानों से शोभित रम्य नगर सुग्रीव विशाल।
राजा था बलभद्र वहाँ पटरानी मृगावती सुकुमाल ॥१॥

पुत्र बलश्री, मृगापुत्र की संज्ञा से जो विश्रुत था।
मात-पिता को प्रिय था वह युवराज दमीश्वर सश्रुत था ॥२॥

सदानन्दप्रद भवनों में ललनाओं के सह क्रीड़ा करता।
दोगुन्दुक देवों की नांई प्रमुदित मानस वह नित रहता ॥३॥

मणि-रत्नों से जड़िताङ्गन-प्रासाद-गवाक्षस्थित युवराज।
पुर के त्रिक चत्वर व चतुष्क पथों को देख रहा नरताज ॥४॥

तत्र स्थित उसने जाते देखा तप-व्रत-संयमधर को।
शील ऋद्धि संपन्न, गुणाकर, श्रमण, भिक्षु संयत वर को ॥५॥

मृगा-पुत्र अनिमेष दृष्टि से उसे देखता है, मैं मानूं।
ऐसा रूप कहीं पर पहले मैंने देखा है, पहचानूं ॥६॥

अध्यवसाय पवित्र व मुनि-दर्शन होने पर सघन चित्त की।
ऐसी वृत्ति हुई, फिर याद उसे हो आई पूर्व जन्म की ॥७॥

[देवलोक से च्युत हो मनुज जन्म में आया है, समनस्क।
ज्ञान हुआ तब पूर्व जन्म की हुई उसे फिर स्मृति सद्यस्क ॥]

महा ऋद्धिधर मृगा-पुत्र को जाति स्मृति होने पर ज्ञान।
पूर्व जन्म व पुराकृत संयम की स्मृति हो आई अम्लान ॥८॥

विषयों की आसक्ति न रही हुआ वह संयम में अनुरक्त।
मात-पिता के निकट पहुँच, इस भाँति कहा उसने उस वक्त ॥९॥

महाव्रतों को सुना, नरक तिर्यञ्च योनि में दुख है तात !
भव-सागर से हूँ विरक्त, दीक्षा लूंगा आज्ञा दे मात ! ॥१०॥

मात-पिता ! भोगों को भोग चुका हूँ ये विषफल सम हैं।
कटु परिणाम, निरन्तर दुख देने वाले, सुख का भ्रम है ॥११॥

अति अनित्य यह और अशुचि है तथा अशुचि-संभव तन हैं।
यहाँ जीव का वास अशाश्वत दुःख-क्लेश का भाजन है ॥१२॥

जल-बुलबुल सम क्षणिक अशाश्वत इस तन में न मुझे रति है।
पहले-पीछे इसे छोड़ना ही होगा निश्चित मति है ॥१३॥

व्याधि रोग का आलय, जन्म-मृत्यु से घिरा हुआ तन है।
इस असार नर-भव में क्षण-भर भी न यहाँ लगता मन है ॥१४॥

जन्म दुःख है जरा दुःख है रोग तथा मरना दुख है।
अहो! दुःखमय सारा जग है जहाँ जीव पाते दुख हैं ॥१५॥

सुत दारा बान्धव हिरण्य घर खेत तथा इस तन को भी।
परवश मुझे छोड़ कर जाना होगा सब धन-जन को भी ॥१६॥

यथा नहीं किम्पाक फलों का सुन्दर होता है परिणाम।
तथा भुक्त-भोगों का भी न कभी होता सुन्दर परिणाम ॥१७॥

संबल लिए बिना जो मानव लम्बे पथ को लेता है।
भूख-प्यास से पीड़ित होकर दुखी निरन्तर होता है ॥१८॥

इसी तरह जो बिना धर्म के मानव पर-भव में जाता।
व्याधि-रोग से पीड़ित होकर पग-पग पर वह दुख पाता ॥१९॥

सम्बल को ले साथ मनुज जो लम्बे पथ में चलता है।
भूख-प्यास-वर्जित हो सुख पूर्वक मंजिल पर बढ़ता है ॥२०॥

इसी तरह जो धर्म पालकर नर पर-भव में जाता है।
व्याधि-रहित वह अल्प कर्म वाला, आनन्द मनाता है ॥२१॥

जिस प्रकार गृहपति स्वगेह में अग्निकांड हो जाने पर।
तज असार सब सार वस्तुएं वह निकाल लेता सत्वर ॥२२॥

इसी तरह यह जरा-मृत्यु से जलता रहता है संसार।
पा निर्देश आपका इससे मैं बच निकलूंगा उस पार ॥२३॥

मात-पिता ने कहा, पुत्र! श्रामण्य पालना अति दुष्कर।
सुगुण सहस्रों मुनि को धारण करने पड़ते हैं वरतर ॥२४॥

शत्रु हों या मित्र सभी जीवों पर साम्य भाव रखना।
दुष्कर है हिंसा से बच कर जीवन-भर जग में बसना ॥२५॥

लिए सदा के अप्रमत्त हो, मृषावाद-वर्जन करना।
सोपयोग हितकारी सच कहना दुष्कर है व्रत धरना ॥२६॥

दाँत शोधने का तिनका भी बिना दिए न ग्रहण करना।
एषणीय अनवद्य ग्रहण भी अति दुष्कर यह व्रत धरना ॥२७॥

कामभोग-रस-विज्ञ मनुज के लिए मिथुन-उपरत होकर।
उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्य धारण करना है अति दुष्कर ॥२८॥

नौकर-चाकर दास तथा धन-धान्य परिग्रह को तजकर।
सर्वारम्भ-परिग्रह त्यागी निर्ममत्व होना दुष्कर ॥२९॥

जीवन-भर तक निशि में चारों ही आहार त्याग देना।
सन्निधि, संग्रह का वर्जन भी दुष्कर है, यह व्रत लेना ॥३०॥

क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण फिर दंश-मशक का दुख बढ़कर।
कटुक वचन, दुखद-शय्या, तृण-स्पर्श मैल परीषह दुष्कर ॥३१॥

तथा ताड़ना और तर्जना वध, बन्धन परिषह सहना।
भिक्षाचर्या दुखद याचना फिर अलाभ में सम रहना ॥३२॥

कठिन-वृत्ति कापोती, केशों का लुंचन दारुण है आर्य!
घोर ब्रह्मव्रत-ग्रहण, महात्माओं के लिए कठिनतम कार्य ॥३३॥

तू है पुत्र! सुखोचित और सुसज्जित तन, सुकुमार सही
तू मुनिव्रत पालन करने के लिए कदापि समर्थ नहीं ॥३४॥

गुरुतर लोह-भार को नित ढोना ज्यों बहुत कठिन है पुत्र!
अविश्राम त्यों जीवन-भर गुण-महाभार, मुनि जीवन-सूत्र ॥३५॥

नभ गंगा का स्रोत पकड़ प्रतिस्रोत तैरना दुष्कर है।
भुज-बल से ज्यों उदधि तैरना त्यों गुण-सागर दुस्तर है ॥३६॥

बालू कवल समान साधु जीवन अति नीरस पहचानो।
असि-धारा पर चलने जैसा तप-आचरण पुत्र! मानो ॥३७॥

अहि की ज्यों एकाग्र दृष्टि से चरण निभाना पुत्र! कठिन है।
ज्योंकि चबाना लोहे के यव, त्यों चारित्र अतीव कठिन है ॥३८॥

ज्यों प्रदीप्तमय अग्नि-शिखा को मुख से पीना दुष्कर कार्य।
तरुणावस्था में त्यों चरण निभाना महाकठिन है आर्य! ॥३९॥

कपड़े के थैले को मारुत से भरना ज्यों कठिन विशेष।
सत्वहीन नर से त्यों श्रमण धर्म का पालन कठिन विशेष ॥४०॥

ज्योंकि कठिन है मेरु शैल का तकड़ी से तोला जाना।
निश्चल निर्भय होकर श्रमण धर्म का त्यों पाला जाना ॥४१॥

और भुजाओं से समुद्र को बहुत कठिन तैरना यथा।
अनुपशान्त नर से त्यों ही दम-सागर को तैरना तथा ॥४२॥

मनुज सम्बन्धी पाँच इन्द्रियों के भोगों को भोग प्रवर।
ततः भुक्तभोगी बनकर मुनिधर्म पाल लेना सुतवर! ॥४३॥

मात-पिता से कहा पुत्र ने कथन आपका बिल्कुल सत्य।
लेकिन निःस्पृह जन के लिए न कुछ भी कठिन यहां यह तथ्य॥४४॥

बार अनन्त मानसिक शारीरिक अति घोर वेदनाएं।
सही अनेक बार दुख भय का अनुभव कहा नहीं जाए ॥४५॥

चार अन्त वाले, भय-आकर जन्म-मरण मय जंगल में चिर।
जन्म-मरण के घोर दुखों को सहन किया बहुधा मैंने फिर ॥४६॥

जैसे यहाँ उष्ण है इससे वहाँ अनन्त गुनाऽधिक जान।
दुखमय उष्ण वेदना सही नरक में मैंने तात! महान ॥४७॥

जैसे यहाँ शीत है इससे वहां अनन्त गुनाऽधिक जान।
दुखमय शीत वेदना सही नरक में मैंने तात! महान ॥४८॥

कुन्दु कुंभियों में नीचा शिर ऊर्ध्व पैर कर ज्वलित आग पर।
क्रन्दन करता हुआ पकाया गया अनन्त बार मैं पितुवर! ॥४९॥

महा दवाग्नि वज्र बालुका मरुस्थल सदृश कदम्ब नदी की—
बालू में, अनन्त बार मैं गया जलाया, व्यथा बदीकी ॥५०॥

त्राण-रहित क्रन्दन करते को पाक-पात्र में बांधा ऊपर।
करवत आरादिक से मुझको छेदा बार अनन्त वहाँ पर ॥५१॥

तीक्ष्ण कंटकाकीर्ण अतीव उच्च शाल्मलि के पादप पर।
पाशबद्ध कर इधर-उधर खींचा, असह्य दुख था अति दुष्कर॥५२॥

अति आक्रंदन करता बार अनन्त ऊख ज्यों मैं पापी।
महा यन्त्र में पेरा गया, स्व कर्मों द्वारा संतापी ॥५३॥

रुदन पलायन करता, सबल श्याम सूम्रर कुत्तों द्वारा मैं।
बार अनेक गिराया, फाड़ा, काटा गया नरक कारा में ॥५४॥

लोह-दंड भल्लियों व अलसी कुसुम वर्ण खड्गों से तात !
छिन्न-भिन्न व विच्छिन्न हुआ पापों द्वारा नरकों में मात ! ॥५५॥

समिलायुत प्रज्वलित लोह-रथ में जोता मैं गया विवश फिर।
चाबुक रस्सी द्वारा हांका गया रोझ ज्यों पटका भू पर ॥५६॥

पाप कर्म से घिरा विवश मैं, जलती हुई चिताओं में चिर।
भैंसे की ज्यों मुझे जलाया और पकाया गया वहां फिर ॥५७॥

लोह-तुण्ड, संदंश-तुण्ड सम ढंक गीध विहगों से हन्त।
जबरन क्रन्दन करता नोचा गया वहां मैं बार अनन्त ॥५८॥

जल पीऊंगा हुआ सोचता पहुंचा वैतरणी पर दौड़।
प्यासाकुल इतने में क्षुर-धारा से चीरा गया सजोर ॥५९॥

गर्मी से संतप्त, गया असि-पत्र महावन में जिस-वार।
असि-पत्रों के गिरने से मैं छेदा गया अनेकों बार ॥६०॥

मूसल मुद्गर शूल सूण्डियों से मैं भग्न शरीर हुआ।
त्राण-हीन, इस भांति अनन्त बार मैं दुख को प्राप्त हुआ ॥६१॥

तीक्ष्ण छुरों-छुरियों व कैंचियों से मैं किया गया शत खंड।
खाल उतारी, छेदा गया, किया दो टूक, न रहा घमंड ॥६२॥

मृग की ज्यों पाशों व कूट-जालों में ठगा गया हर बार।
पराधीन मैं बांधा, रोका, मारा गया, अनेकों बार ॥६३॥

बड़िश यन्त्र से मगर-जाल से परवश बना मत्स्य ज्यों म्लान।
खींचा, फाड़ा, पकड़ा मारा गया अनन्त बार, बेजान ॥६४॥

वज्र लेप, जालों व बाज-विहगों से पक्षी की ज्यों पकड़ा।
गया अनन्त बार चिपकाया, बांधा मारा गया कि जकड़ा ॥६५॥

ज्यों सुथार द्रुम को त्यों फरसों तथा कुल्हाड़ी से दो टूक—
किया गया, छीला कूटा छेदा अनन्तशः वहाँ न चूक ॥६६॥

लोहे को लोहार यथा, त्यों थप्पड़ मुक्कों उस बार।
कूटा, पीटा, चूरा, छेदा गया अनन्त बार, लाचार ॥६७॥

कलकल करता तप्त लोह, ताम्बा रांगा सीसा जबरन।
जोरों से अरड़ाते मुझे पिलाया यम ने निर्दय बन ॥६८॥

खंड व शूल्यक मांस तुझे अति प्रिय था ऐसे याद दिलाया।
मेरे तन का मांस काट कर लाल अग्नि सम मुझे खिलाया ॥६९॥

सुरा सीधु मेरक मधु प्रिय था बहुत तुझे यह याद दिलाकर।
जलती चर्बी और रुधिर को मुझे पिलाया गया वहां पर ॥७०॥

सदा भीत दुःखित संत्रस्त व्यथित बन रहते हुए वहां पर।
परम दुःखमय तीव्र वेदना का अति अनुभव किया प्रचुरतर ॥७१॥

तीव्र चंड अति दुःसह घोर प्रगाढ़ भयंकर भीम वेदना।
का अनुभव है किया नरक में, अब मेरे को कर्म-छेदना ॥७२॥

मनुज-लोक में हमें दीखती जैसी घोर वेदना तात!
उससे वहां अनन्त गुणाऽधिक नरक वेदना का संताप ॥७३॥

मुझको सभी भवों में दुखद वेदना की अनुभूति हुई है।
वहां निमेषान्तर जितनी भी शुभ सुखमय वेदना नहीं है ॥७४॥

कहा, पिता-माता ने, तेरी इच्छा है तो दीक्षा ले सुत!
किन्तु न रोग-चिकित्सा होती, कितना कठिन श्रमण पथ अद्भुत ॥७५॥

सुत ने कहा पिता-माता से कथन आपका ठीक अहो!
पर वन में मृग-विहगों का करता है कौन इलाज कहो ॥७६॥

ज्यों अरण्य में एकाकी मृग विरहन करता है अविकल।
त्यों मैं भी तप-संयम-सह पालूंगा धर्म सदा अविचल ॥७७॥

घोर विपिन में तरु-मूल-स्थित मृग जब रोगी हो जाता।
कौन चिकित्सा करता उसकी बतलाएं हे पितु! माता! ॥७८॥

औषधि कौन उसे देता फिर कौन पूछता सुख की बात।
उसे अन्न-जल लाकर देता ऐसा कौन वहाँ पर तात! ॥७९॥

जब कि स्वस्थ हो जाता है वह तब गोचर में इठलाता।
लता-निकुंजों जलाशयों में खाने-पीने-हित जाता ॥८०॥

लता निकुंजों जलाशयों में खा-पीकर वह सुख पाता।
मृगचर्या के द्वारा मृगचर्या को शीघ्र चला जाता ॥८१॥

त्यों संयम तत्पर हो करता भिक्षु स्वतन्त्र विहार प्रवर।
मृगचर्या का पालन कर मोक्षस्थल को जाता सत्वर ॥८२॥

अनेकचारी, अनेकवासी ध्रुव गोचर एकाकी मृग ज्यों।
नहीं किसी की भिक्षागत मुनि हीला निन्दा करता है त्यों ॥८३॥

मृगचर्या धारूंगा यथा-सौख्य हो तथा करो सुतवर !
मात-पिता की अनुमति पाकर, उपधि छोड़ता है बुधवर ॥८४॥

सब दुख-मुक्तिप्रदा मृगचर्या धारूंगा मैं अनुमति पाकर।
कहा पिता-माता ने, जैसे सुख हो वैसे करो पुत्रवर ! ॥८५॥

यों बहु विध अनुमति के लिए पिता-माता को राजी कर।
ममत्व-छेदन करता, ज्यों कंचुक का, महा नाग द्रुततर ॥८६॥

ऋद्धि, मित्र, धन, पुत्र, कलत्र व ज्ञाति जनों को प्रमुदित मन।
कपड़े पर से ज्यों कि धूलि को झटकाकर वह बना श्रमण ॥८७॥

पांच महाव्रत युक्त, समिति पंचक से समित, त्रि-गुप्ति-गुप्त है।
बाह्याभ्यन्तर तप करने के लिए बना संतत उद्यत है ॥८८॥

निर्मम निरहंकर और निर्लेप, त्यक्त-गौरव मतिमान।
त्रस स्थावर सब जीवों में रखने वाला समभाव महान ॥८९॥

लाभ अलाभ और सुख-दुख में जीने मरने में सम है।
निन्दा-स्तुति-अपमान-मान में सम रहना जिसका क्रम है ॥९०॥

गौरव, दण्ड, कषाय, हास्य, भय, शल्य, शोक से वर्जित है।
अशुभ-निदान और बन्धन से रहित बना, धृति अर्जित है ॥९१॥

अत्र लोक व परत्र लोक में अनासक्त पावन तम है।
वासी, चन्दन में सम और अशन अनशन में भी सम है ॥९२॥

अप्रशस्त द्वारों का अवरोधक, पिहिताश्रव शुभ मन है।
शुभ अध्यात्म-ध्यान-योगों से वह प्रशस्त-दम-शासन है ॥९३॥

इस प्रकार चारित्र, ज्ञान, दर्शन, तप शुद्ध भावना से।
भलीभाँति आत्मा को भावित किया, विमुक्त कामना से ॥९४॥

बहु वर्षों तक श्रमण धर्म का निरतिचार पालन करके।
ततः अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की एक मास अनशन धरके ॥९५॥

जो संबुद्ध विचक्षण पंडित इस भाँति नित करते हैं।
भोगों से उपरत बन, मृगापुत्र ऋषि ज्यों शिव वरते हैं ॥९६॥

महायशस्वी प्रभावशाली मृगापुत्र का कथन श्रवण कर।
तप-प्रधान आचरण, त्रिलोक-प्रथित-उत्तम गति को भी सुनकर ॥९७॥

दुखवर्धक धन को, ममता, बन्धन को, महा भयद पहचान।
सुखद अनुत्तर मोक्षद धर्मधुरा महान धारो मतिमान ॥९८॥

बीसवाँ अध्ययन

महानिर्ग्रन्थीय

भाव भरा सिद्धों व संयतों को कर नमस्कार, गुण चुन लो।
साध्य, धर्म की ज्ञापक तथ्य पूर्ण शिक्षा तुम मुझसे सुन लो ॥१॥

प्रभूत रत्नाधिप मगधेश्वर श्रेणिक नृप क्रीड़ा करने को।
गया एकदा मंडि कुक्षि उपवन में, मनस्ताप हरने को ॥२॥

नाना वृक्ष लता-आकीर्ण, विविध विहगों से सेवित था।
नाना कुसुमाच्छन्न तथा नन्दनवन-सम वह सुरभित था ॥३॥

संयत सुसमाहित सुकुमार सुखोचित एक साधु को उसने।
वहाँ वृक्ष के नीचे स्थित देखा है सहसा श्रेणिक नृप ने ॥४॥

उसका रूप देखकर राजा उसके प्रति आकृष्ट हुआ।
और उसे फिर अतुलनीय अत्यन्त परम आश्चर्य हुआ ॥५॥

अहो ! आर्य का रूप वर्ण कैसा ? व सौम्यता है कैसी।
क्षान्ति, मुक्ति, भोगों में अनासक्ति न कहीं देखी ऐसी ॥६॥

दे प्रदक्षिणा उसके चरणों में कर नमन, बैठता है।
नाति दूर वह नाति निकट बद्धांजलि प्रश्न पूछता है ॥७॥

भोग समय इस तरुणावस्था में प्रव्रजित हुए क्यों आर्य !
तत्पर हुए श्रमणता में क्यों ? सुनना चाहूंगा अनिवार्य ॥८॥

महाराज ! मैं अनाथ हूँ मेरा कोई भी नाथ नहीं।
अनुकम्पा करने वाला व मित्र का कोई साथ नहीं ॥९॥

मगधाधिप श्रेणिक नृप यों सुन, हंसा जोर से यों बोला फिर।
सहज भागशाली हो तुम, कैसे 'न नाथ कोई तेरा फिर ॥१०॥

हे भदन्त ! मैं नाथ बनूंगा तेरा, संयत ! भोगो भोग।
मित्र ज्ञातियों से परिवृत हो, क्योंकि सुदुर्लभ नरभव-योग ॥११॥

तुम हो स्वयं अनाथ व होते हुए अनाथ स्वयं ऐसे।
मगधाधिप ! श्रेणिक ! औरों का नाथ बनोगे तुम कैसे ॥१२॥

मुनि के द्वारा ऐसे अश्रुतपूर्व कहे जाने पर शब्द।
अति व्याकुल आश्चर्य मग्न होकर, रह गया नराधिप स्तब्ध ॥१३॥

घोड़े, हाथी, मनुज, नगर, अन्तःपुर फिर आज्ञा, ऐश्वर्य।
ये मेरे हैं पास, मनुज-भोगों को भोग रहा मुनिवर्य ॥१४॥

जिसने भोग समर्पित मुझे किए, वैसी सम्पदा प्रवर।
मैं अनाथ कैसे हूँ भगवन्! मत असत्य बोलो मुनिवर! ॥१५॥

अर्थोत्पत्ति अनाथ शब्द की पार्थिव! नहीं जानता तू।
जैसे होता नाथ, अनाथ, न वैसे भूप! जानता तू ॥१६॥

अव्याकुल मन से सुन मुझसे ज्यों अनाथ होता नरताज!
जिस आशय से मैंने उसका किया प्रयोग यहाँ अधिराज! ॥१७॥

प्राक्तन नगरों में अति सुन्दर कौशाम्बी नगरी में वास
करते मेरे पिता, प्रचुर धन का संचय है उनके पास ॥१८॥

युवा अवस्था में मेरी आँखों में पीड़ा हुई अतुल।
पार्थिव! सारा गात्र जलन को पीड़ा से जल उठा विपुल ॥१९॥

तीखे शस्त्रों को घुसेड़ता तन-छिद्रों में कुपित अरि।
त्यों मेरी आँखों की पीड़ा अति असह्य होकर उभरी ॥२०॥

कटि मस्तक फिर हृदय वेदना अति दारुण प्रस्फुटित हुई।
इन्द्र-वज्र लगने पर ज्यों वह घोर रूप से उदित हुई ॥२१॥

विद्या-मंत्र-चिकित्सक, शास्त्र-कुशल अद्वितीय भिषगाचार्य।
मंत्र-मूल सुविशारद हुए उपस्थित मेरे खातिर आर्य ॥२२॥

ज्यों मेरा हित हो, त्यों चतुष्पाद मय किया इलाज प्रवर।
दुःख-मुक्त कर सके न वे, मेरी अनाथता यह नरवर! ॥२३॥

मेरे पितुवर ने उनको बहुमूल्य वस्तुएँ दी खुलकर।
दुःख-मुक्त कर सके न वे, मेरी अनाथता यह नरवर! ॥२४॥

मेरी माता पुत्र-शोक दुःखार्त्त रो रही बाढ़ स्वर।
दुःख-मुक्त कर सकी न वह, मेरी अनाथता यह नरवर! ॥२५॥

ज्येष्ठ कनिष्ठ सहोदर मेरे एक-एक से थे बढ़कर।
दुःख-मुक्त कर सके न वे, मेरी अनाथता यह नरवर! ॥२६॥

मेरी ज्येष्ठ कनिष्ठ भगिनियों ने श्रम किया अतीव प्रखर।
दुःख-मुक्त कर सकीं न वे, मेरी अनाथता यह नरवर! ॥२७॥

पतिव्रता अनुरक्ता भार्या परिचर्या करती प्रति पल।
अश्रुपूर्ण नेत्रों से मेरा सींच रही थी वक्षस्थल ॥२८॥

खाना पीना स्नान गंध माला व विलेपन को छोड़ा।
मेरे से अज्ञात-ज्ञात में, उसने इनसे मुंह मोड़ा ॥२९॥

निशि-वासर में वह मेरे से अलग न होती थी क्षण-भर।
दुःख मुक्त कर सकी न वह, मेरी अनाथता यह नरवर ॥३०॥

इस प्रकार तब मैंने कहा कि इस अनन्त संसृति में आखिर।
बार-बार दुःसह्य वेदना का अनुभव करना होता चिर ॥३१॥

एक बार इस विपुल वेदना से यदि मुक्त बनूं इस बार।
तो मैं क्षान्त दान्त फिर निरारंभ प्रव्रजित बनूं अनगार ॥३२॥

ऐसा चिन्तन कर सो गया नराधिप! आँख मिली तत्क्षण।
निशा अन्त के साथ वेदना का भी अन्त हुआ राजन् ॥३३॥

अरुज हो गया प्रातः तदा पूछ स्वजनों से मैं अविलम्ब।
क्षान्त दान्त फिर निरारम्भ प्रव्रजित बना अनगार अदंभ ॥३४॥

तदन्तर मैं अपना तथा अपर मनुजों का नाथ बना।
त्रस-स्थावर सब जीवों का भी नाथ बना संयम अपना ॥३५॥

वैतरणी सरिता आत्मा है कूट शाल्मली तरू आत्मा।
कामदुधा गौ, आत्मा मेरी नन्दन वन भी यह आत्मा ॥३६॥

सुख दुःख की कर्त्ता व विकर्त्ता यह आत्मा है तुम जानो।
सुप्रस्थित दुस्प्रस्थित मित्र अमित्र यही है पहचानो ॥३७॥

सुन मुझसे एकाग्र अचल बन अब अनाथ का अपर स्वरूप।
कायर नर संयम ले, फिर हो जाते शिथिल अनेकों, भूप! ॥३८॥

धार महाव्रत, जो प्रमाद वश सम्यग् पाल नहीं सकता।
अनियन्त्रित, रस-लोलुप, बन्धन की जड़ काट नहीं सकता ॥३९॥

ईर्या भाषैषणाऽऽदान निक्षेपोच्चार समितियों में नर।
सजग न रहता वह न वीर वर-पथ का हो सकता है अनुचर ॥४०॥

अस्थिर-व्रत, तप-नियम-भ्रष्ट जो चिर मुंडन में रुचि रखकर भी।
चिर क्लेशित हो, वह संसृति का पार न पा सकता है फिर भी।।४१।।

पोली मुट्ठी, खोटे सिक्के की ज्यों अनियन्त्रित, गुणहीन।
काच-चमक वैडूर्य-भाँति पर विज्ञ दृष्टि में मूल्य विहीन।।४२।।

धार कुशील-वेष, ऋषि-ध्वज से जो निज आजीविका चलाता।
हो असाधु, संयत कहलाता वह चिर विनाश को है पाता।।४३।।

कालकूट विष पीना, उल्टा शस्त्र पकड़ना ज्यों घातक है।
विषय-युक्त त्यों धर्म-ग्रहण भी अवश-पिशाच भाँति नाशक है।।४४।।

लक्षण, स्वप्न, निमित्त-प्रयोग करे, कौतुकासक्त अति रहता।
कुहेट-विद्याश्रव-जीवी न किसी की शरण प्राप्त कर सकता।।४५।।

वह असाधु अति अज्ञ, कुशील सतत दुःखी संयम खोकर।
फिर वह तिर्यक् नरक योनि में जाता मिथ्यात्वी होकर।।४६।।

औद्देशिक, नित्याग्र, क्रीत-कृत, अनेषणीय न छोड़े व्रतधर।
अग्नि भांति सब भक्षी मर दुर्गति में जाता अघ अर्जन कर।।४७।।

दुष्प्रवृत्ति निज, कंठ-छेद अरि से भी अधिक हानिप्रद सत्य।
दयाहीन वह मृत्यु समय अनुशय-सह जानेगा यह तथ्य।।४८।।

संयम-रुचि है व्यर्थ कि जिसकी उत्तमार्थ में मति-विपरीत।
इह-परलोक न उसका होता, भ्रष्ट उभयतः क्षीण, सभीत।।४९।।

ऐसे जो स्वच्छन्द कुशील जिनोत्तम-पथ से विचलित होते।
भोग-रसों में गृद्ध गीध ज्यों व्यर्थ शोक-संतापित होते।।५०।।

ज्ञान-गुणों से युक्त सुभाषित यह अनुशासन सुन धीमान।
सर्व कुशील मार्ग को तज निर्ग्रन्थ मार्ग में चले सुजान।।५१।।

चरिताचार गुणान्वित वर संयम का पालन कर तदनन्तर।
निराश्रवी कर्म क्षय कर ध्रुव मोक्ष स्थल पाता वह मुनिवर।।५२।।

महा प्रतिज्ञ, यशस्वी, उग्र दान्त व तपोधन उस मुनिवर ने।
विस्तृत कहा इस महानिर्ग्रन्थीय महाश्रुत को व्रतधर ने।।५३।।

तुष्ट हुआ है श्रेणिक नृप फिर हाथ जोड़ कर ऐसे बोला।
सुष्टु अनाथ स्वरूप यथार्थ बता कर मेरा श्रुति-पट खोला।।५४।।

नर-भव सफल तुम्हारा, तेरी उपलब्धियाँ हुई सुसफलतर।
तुम हो नाथ, सबांधव क्योंकि जिनोत्तम-पथ में स्थित हो ऋषिवर ।।५५।।

तुम हो नाथ अनाथों के, सब जीवों के हो नाथ सुदीक्षित !
क्षमा चाहता महाभाग ! तुम से होना चाहता सुशिक्षित ।।५६।।

मैंने प्रश्न पूछकर जो कि ध्यान में डाला विघ्न अगाध।
दिया निमंत्रण भोगों के हित, क्षमा करो मेरा अपराध ।।५७।।

परम भक्ति से राज सिंह, अनगार सिंह की कर स्तवना।
अन्तःपुर परिजन बान्धव सह विमलचित्त धर्मस्थ बना ।।५८।।

रोम-कूप उच्छ्वसित नराधिप कर प्रदक्षिण मुनि की सत्वर।
मस्तक झुका वन्दना कर फिर चला गया है अपने घर पर ।।५९।।

इधर त्रिदण्ड-विरत, मुनि गुण-समृद्ध त्रिगुप्ति-गुप्त भू पर।
विहग भाँति वे विप्रमुक्त निर्मोह विचरने लगे प्रवर ।।६०।।

इक्कीसवाँ अध्ययन

समुद्रपालीय

चंपानगरी में पालित नामक श्रावक बणिया था एक।
महावीर भगवान महात्मा का सुशिष्य विनयी सुविवेक ॥१॥

वह श्रावक निर्ग्रन्थ शास्त्र-कोविद था जीवन स्तर ऊँचा।
करता वह व्यापार पोत से पिहुण्ड में जा पहुँचा ॥२॥

वहाँ वणिज करते को किसी बणिक ने निज कन्या ब्याही।
हुई गर्भिणी, तदा उसे ले साथ स्वदेश चला राही ॥३॥

पालित की स्त्री ने समुद्र में प्रसव किया है शुभ सुत का।
वहीं जन्म होने पर नाम रखा कि समुद्रपाल उसका ॥४॥

चम्पा को निर्विघ्न प्राप्त कर वह श्रावक आया घर पर।
सुखपूर्वक संवर्धन होता उस बालक का अपने घर ॥५॥

सीख कलाएं द्वासप्तति, फिर नीति-निपुण अति दक्ष बना।
यौवन पाकर रूपवान प्रियदर्शी बना वह मुदितमना ॥६॥

रूपवती रूपिणी वधू को ब्याही उसे पिता ने देख।
रम्य महल में दोगुन्दक सुर ज्यों क्रीड़ा करता अतिरेक ॥७॥

एक दिवस प्रासाद-गवाक्ष-स्थित उसने पुर को संपेखा।
वध्य-चिन्ह युत एक बध्य को पुर बाहर ले जाते देखा ॥८॥

उसे देख वैराग्य हुआ कि समुद्रपाल ऐसे कहता है।
अहो! अशुभ कर्मों का यह अवसान दुखद होकर रहता है ॥९॥

वहीं परम संवेग प्राप्त कर वह भगवान प्रबुद्ध हुआ।
मात-पिता को पूछ शीघ्र प्रव्रजित संयमी शुद्ध हुआ ॥१०॥

महाक्लेश भय मोहोत्पादक कृष्ण भयावह संग छोड़ कर।
व्रत, पर्याय-धर्म, शुभ शील परिषहों में अभिरुचि ले, यतिवर ॥११॥

सत्य अहिंसा ब्रह्मचर्य अस्तेय व अपरिग्रह मय जान।
पांच महाव्रत धार जिनोक्त धर्म को समाचरे विद्वान ॥१२॥

सब जीवों में दयानुकम्पी क्षान्ति-क्षम ब्रह्मव्रत धारी ।
समाहितेन्द्रिय संयत तज सावद्य योग, विचरे अविकारी ॥१३॥

स्वात्म बलाबल तौल, राष्ट्र में विचरे समयोचित मुनि भव्य ।
भीम शब्द सुन हरि ज्यों निर्भय कुवचन सुन बोले न असभ्य ॥१४॥

कटु वचनों की करे उपेक्षा, प्रिय अप्रिय सब सहे प्रवर ।
कहीं न हो आसक्त, न चाहे पूजा, गर्हा को मुनिवर ॥१५॥

नाना अभिप्राय नर में होते हैं, करे नियन्त्रण उन पर ।
सुर नर तिर्यञ्चोत्थित भीषण भीषणतम दुख सहे भिक्षुवर ॥१६॥

विविध दुःसह कष्टों से हो जाते खिन्न कई कायर नर ।
किन्तु न दुख से व्यथित बने संयत ज्यों नागराज मोर्चे पर ॥१७॥

दंश-मशक शीतोष्ण व तृणस्पर्श, रोगों से तन घिर जाए ।
शान्त भाव से उन्हें सहे, मुनि पूर्वार्जित रज कर्म खपाए ॥१८॥

राग-द्वेष-मोह को संतत छोड़ विचक्षण भिक्षु रहे नित ।
परीषहों को वायु-अकम्पित मेरु भाँति गुप्तात्म सहे नित ॥१९॥

निन्दा, स्तुति में अवनत उन्नत बने न संयत, विरत गुणी ।
वह अलिप्त, आर्जव अपनाकर शिव-पथ पाता महा मुनि ॥२०॥

सहे अरति-रति को परिचय तज, विरत आत्म-हित संयमवान ।
अभय, अकिंचन, छिन्नशोक, परमार्थ-पद स्थित है गुणवान ॥२१॥

बीजादिक से रहित व महा यशस्वी ऋषियों द्वारा स्वीकृत ।
विजनालय में रहे, देह से सहे कष्ट त्रायी गुण-संभृत ॥२२॥

वह सद्ज्ञान-ज्ञान संप्राप्त, अनुत्तर धर्मोपचय आचारी ।
प्रधान ज्ञानी नभ में रवि ज्यों दीप्तिमान होता यशधारी ॥२३॥

संयम-निश्चल, पुण्य-पाप को खपा, सर्वतः मुक्त बना ।
सिन्धु-तुल्य भवजल को तैर, समुद्रपाल मुनि सिद्ध बना ॥२४॥

बाईसवाँ अध्ययन

रथनेमीय

सोरियपुर नामक नगरी में था वसुदेव नाम का भूप।
राज-लक्षणों से संयुक्त, महान ऋद्धिधर रूप अनूप ॥१॥

उसके उभय रानियाँ थीं रोहिणी देवकी नाम प्रसिद्ध।
दोनों के दो इष्ट पुत्र थे राम व केशव गुण-समृद्ध ॥२॥

सोरियपुर नगरी में भूप समुद्रविजय करता था राज्य।
राज लक्षणों से संयुक्त महर्द्धिक, विस्तृत था साम्राज्य ॥३॥

शिवा नामक भार्या उसके महा यशस्वी पुत्र-प्रधान।
हुआ लोक का नाथ दमीश्वर नाम अरिष्टनेमि भगवान ॥४॥

स्वर-लक्षण संयुत शुभ एक हजार आठ लक्षणवाला था।
वह गौतम गोत्री व अरिष्टनेमि फिर श्याम वर्णवाला था ॥५॥

वज्र-ऋषभ संहनन, झषोदर, था वह समचतुस्राऽऽकार।
उसके लिए कृष्ण ने मांगी, कन्या राजमती उस बार ॥६॥

वह सब लक्षण युक्त सुशीला चारु-प्रेक्षिणी नृपवर कन्या।
विद्युत्सौदामिनी प्रभा वाली थी धन्या रूप अनन्या ॥७॥

महा ऋद्धिधर वासुदेव से, उसके पितु ने कहा स्पष्टतर।
आए यहीं कुमार तदा मैं दे सकता हूं कन्या सुन्दर ॥८॥

सर्वोषधिमय जल से नहलाया व किए कौतुक मंगल चिर।
दिव्य वस्त्र युग पहनाया आभरण-विभूषित किया उसे फिर ॥९॥

वासुदेव के मत्त व ज्येष्ठ गंध गज पर आरूढ़ हुआ।
सिर पर ज्यों चूडामणि त्यों वह नेमि सुशोभित अधिक हुआ ॥१०॥

ऊंचे छत्र चामरों से वह हुआ सुशोभित नेमि कुमार।
चारों ओर दशार-चक्र से परिवृत, लगता रम्य अपार ॥११॥

क्रमशः चतुररंगिनी चमू सज्जित की गई वहाँ पर खास।
नभ-स्पर्शी वाद्यों के दिव्य नाद से गूँज उठा आकाश ॥१२॥

इस प्रकार उत्तम द्युति और ऋद्धि से परिवृत वह उस बार।
अपने खास भवन से निकला नेमि, वृष्णि-पुंगव सुकुमार ॥१३॥

उसने जाते हुए वहाँ बाड़ों व पिंजरों में अवरुद्ध।
भय-संत्रस्त सुदुःखित प्राणी गण को देखा, जो थे क्षुब्ध ॥१४॥

मरणासन्न दशा को प्राप्त व आमिष-भोजन-हित रक्षित उन।
जीवों को लख, महाप्राज्ञ ने सारथि से यों कहा व्यथित बन ॥१५॥

सुख की इच्छा रखने वाले ये निरीह हैं प्राणी सारे।
बाड़ों और पिंजरों में अवरुद्ध हुए हैं क्यों बेचारे ॥१६॥

तब सारथि ने कहा तुम्हारे शुभ विवाह के अवसर पर।
बहुजन-भोजनार्थ ये रोके गए भद्र प्राणी प्रभुवर ! ॥१७॥

उस सारथि का बहुत-प्राणी-गण नाशक वचन श्रवण कर अब।
जीवों के प्रति सकरुण महाप्राज्ञ ने मन में सोचा तब ॥१८॥

बहुत जीव ये मेरे कारण यदि मारे जाएंगे आर्य !
तो परभव में मेरे लिए न यह होगा श्रेयस्कर कार्य ॥१९॥

महा यशस्वी ने तब कुंडल युगल और कटि-सूत्र अमोल।
तथा सर्व आभूषण उस सारथि को सौंप दिए झट खोल ॥२०॥

दीक्षा के परिणाम हुए जब सर्व ऋद्धि-परिषद सह देव।
उसका अभिनिष्क्रमण महोत्सव करने को आए द्रुतमेव ॥२१॥

सुर-नर-परिवृत उत्तम शिविका में आरूढ़ हुआ गुणखान।
निकल द्वारका से रैवतक शैल पर जा पहुंचा भगवान ॥२२॥

सहस्राभ्रमण चैत्य में जा उतरा उत्तम शिविका से तत्र।
नर सहस्र सह अभिनिष्क्रमण किया, तब था चित्रा नक्षत्र ॥२३॥

अपने सुगन्ध-गंधित मृदु कुंचित केशों का तदन्तर।
पांच मुष्टि से लोंच किया स्वयमेव समाहित ने सत्वर ॥२४॥

लुप्तकेश व जितेन्द्रिय से तब कहा जनार्दन ने अनवद्य।
अहो! दमीश्वर! इच्छित स्वीय मनोरथ प्राप्त करो तुम सद्य ॥२५॥

ज्ञान और दर्शन चारित्र तपस्या क्षान्ति मुक्ति से नित्य।
बढ़ते रहो निरन्तर तुम, शिव-पथ पर हे हरिवंशाऽऽदित्य ॥२६॥

केशव, राम, दशार तथा फिर अन्य बहुत से लोग सचोट।
कर वन्दना अरिष्टनेमि को आए पुरी द्वारका लौट ॥२७॥

जिनवर की दीक्षा को सुन, नृप-कन्या हुई शोक से स्तब्ध।
हास्यानन्द सभी खो बैठी, राजीमती हुई निःशब्द ॥२८॥

राजिमती ने सोचा है धिक्कार अहो ! मेरे जीवन को।
उनसे परित्यक्त हूं अब दीक्षा लेना श्रेयस्कर मुझको ॥२९॥

कूर्च, फलक से हुए सँवारे अलि सम केशों का चुपचाप।
लुंचन किया, धीर-कृत निश्चय राजिमती ने अपने-आप ॥३०॥

दमितेन्द्रिय लुंचित-केशा से वासुदेव बोला उस वार।
कन्ये ! घोर भवोदधि को शीघ्रातिशीघ्र तर, जा उस पार ॥३१॥

बहुश्रुत शीलवती वह राजीमती वहाँ दीक्षित होकर।
बहुत स्वजन परिजन को फिर प्रव्रजित किया उसने सत्वर ॥३२॥

वह रैवंतक शैल पर जाती हुई वृष्टि से भींग गई।
घन वारिस व अँधेरा था उस समय गुफा में ठहर गई ॥३३॥

वस्त्रों को फैलाती हुई नग्न लखकर रथनेमि उसे।
भग्न चित्त हो गया कि फिर उसने भी देखा शीघ्र उसे ॥३४॥

वहाँ विजन में एकाकी संयत को लख भयभीत हुई।
भुज-गुम्फन से वक्ष ढाँक, कांपती हुई वह बैठ गई ॥३५॥

उसे कांपती डरती हुई देख नृप-नन्दन ने उस बार।
उस समुद्र विजयाङ्गज ने वचन कहा उससे अविचार ॥३६॥

भद्रे ! चारु भाषिणि ! सुरूपे ! मैं रथनेमि अतः मुझको।
कर स्वीकार, सुतनु ! न कभी कोई पीड़ा होगी तुमको ॥३७॥

आ, हम भोगें भोग, सुनिश्चित मनुज-जन्म है दुर्लभतम।
सुचिर भुक्तभोगी बन, फिर जिन-पथ पर कदम धरेंगे हम ॥३८॥

भग्नोद्योग पराजित रथनेमि को देख, संभ्रान्त नहीं—
हुई, सती राजुल ने वस्त्रों से निज तन ढँक लिया वहीं ॥३९॥

फिर वह राजसुता नियम-व्रत में सुस्थित हो, उससे सद्य।
शील जाति कुल-रक्षा करते हुए कहा उसने अनवद्य ॥४०॥

अगर रूप से है वैश्रमण व ललित भाव से नलकूबर।
यदि प्रत्यक्ष इन्द्र है तू फिर भी न चाहती तुझे उम्र भर ॥४१॥

[धूमकेतुक दुरासद प्रज्वलित पावक में सही।
अगन्धन कुल-सर्प पड़ते वान्त फिर लेते नहीं ॥]

धिग् तुझे है यशःकामिन् ! भोग-जीवन के लिए।
वमन पीना चाहता तो मृत्यु शुभ तेरे लिए ॥४२॥

पुत्र अन्धकवृष्णि का तू भोज-पुत्री मैं अहो।
हम न गंधन कुल सदृश हों, स्थिरमना संयम वहो ॥४३॥

रागभाव, अगर करेगा तू स्त्रियों को देख कर।
वायु-आहत हट-सदृश अस्थिर बनेगा शीघ्रतर ॥४४॥

भांडपाल या ग्वाला उस धन का न कभी होता स्वामी।
इस प्रकार तू कभी न होगा संयम जीवन का स्वामी ॥४५॥

[क्रोध मान का निग्रह कर माया व लोभ को जीत प्रवर।
इन्द्रिय-गण को वश कर तन को अनाचार से निवृत्त कर।।]

सुन सुभाषित वचन उस संयमवती के सद्गुणी।
धर्म में स्थिर हुआ ज्यों अंकुश लगे गज-अग्रणी ॥४६॥

मन वच काया से संगुप्त बना दमितेन्द्रिय वह मुनिवर।
दृढ़व्रती हो निश्चल मन से संयम पाला जीवन-भर ॥४७॥

आखिर हुए केवली दोनों उग्र तपस्या धारण कर।
सब कर्मों को खपा अनुत्तर सिद्धि प्राप्त कर हुए अमर ॥४८॥

बुद्ध पंडित विचक्षण इस भाँति करते हैं सदा।
भोग से होते अलग जैसे कि पुरुषोत्तम मुदा ॥४९॥

तेईसवां अध्ययन

केशी-गौतमीय

धर्म तीर्थं के महा प्रवर्तक जिन सर्वज्ञ लोक-पूजित थे
संबुद्धात्मा पार्श्व नाम के अर्हन् हुए, राग-विरहित थे ॥१॥

लोक-प्रकाशन पार्श्वनाथ के केशी नामक शिष्य हुए।
विद्याचरण पारगामी व यशस्वी कुमार-श्रमण हुए ॥२॥

मति श्रुत अवधिज्ञान-प्रबुद्ध व शिष्य संघ-परिवृत संचरते।
श्रावस्ती पुर में आए ग्रामानुग्राम वे हुए विचरते ॥३॥

उस नगरी के समीप तिंदुक नाम रम्य उद्यान जहाँ।
प्रासुक शय्या, संस्तारक लेकर ठहरे आचार्य वहाँ ॥४॥

उसी समय में सर्व लोक-विश्रुत जिन वर्धमान भगवान।
धर्म तीर्थं के महा प्रवर्तक विचर रहे थे, सूर्य समान ॥५॥

लोक-प्रकाशक वर्धमान के महा यशस्वी शिष्य-प्रधान।
विद्याचरण पारगामी गौतम नामक थे वे भगवान ॥६॥

द्वादशाङ्ग-विद् बुद्ध तथा फिर शिष्य-संघ-परिवृत संचरते।
वे भी श्रावस्ती पुर में आए ग्रामानुग्राम विचरते ॥७॥

उस नगरी के समीपवर्ती कोष्ठक नामक था उद्यान।
प्रासुक शय्या संस्तारक ले, ठहरे गौतम वहां सुजान ॥८॥

महायशस्वी केशीकुमार-श्रमण और गौतम गणधर।
आत्म-लीन, सुसमाहित दोनों वहां विचरने लगे प्रवर ॥९॥

उभय ओर के श्रमण तपस्वी शिष्य समूहों को सर्वत्र।
तर्क एक उत्पन्न हुआ त्रायी गुणियों के मन में तत्र ॥१०॥

धर्म हमारा यह कैसा ? फिर इनका कैसा है यह धर्म।
इनकी व हमारी आचारिक-धर्म-व्यवस्था का क्या मर्म ॥११॥

महा यशस्वी पार्श्वनाथ ने चातुर्याम यह धर्म कहा।
वर्धमान मुनि का फिर यहां पंच-शिक्षात्मक धर्म रहा ॥१२॥

एक अचेलक अपर कीमती वस्त्र व वर्ण विशिष्ट व्यवस्था ।
एक लक्ष्य से चले उभय में फिर क्यों है यह भेद व्यवस्था ।।१३।।

निज-निज शिष्यों की वितर्कणा को केशी गौतम ने जाना ।
आपस में मिलना है हमें उन्होंने ऐसा दिल में ठाना ।।१४।।

विनय धर्म की मर्यादा का लख औचित्य ज्येष्ठ कुल जान ।
शिष्य-संघ सह तिंदुक वन में आए गौतम श्रमण महान ।।१५।।

गौतम ऋषि को आए देख कुमार-श्रमण केशी ने उनका ।
सम्यक् प्रकार से उपयुक्त किया आदर गौतम के गण का ।।१६।।

प्रासुक पयाल और पांचवीं कुश नामक दी घास तुरन्त ।
लिए बैठने को गौतम को केशी ने खुश हो अत्यन्त ।।१७।।

केशी कुमार-श्रमण व महायशस्वी गौतम श्रमण सुजान ।
दोनों बैठे हुए हो रहे हैं शोभित रवि-चंद्र समान ।।१८।।

कौतूहल खोजी फिर अन्य संप्रदायों के साधु अनेक ।
और हजारों गृहस्थ भी आए हैं वहाँ भीड़ को देख ।।१९।।

देव तथा गन्धर्व यक्ष राक्षस किन्नर दानव संघात ।
और अदृश्य रूप भूतों का वहाँ लगा मेला साक्षात ।।२०।।

महाभाग ! मैं प्रश्न पूछता कहा केशि ने गौतम से जब ।
केशी के कहते-कहते ही यों गौतम ने कहा शीघ्र तब ।।२१।।

जैसी इच्छा हो वैसे पूछो गौतम ने कहा भदन्त !
अनुमति पाकर केशी ने फिर गौतम से यों कहा तुरन्त ।।२२।।

महामुनीश्वर पार्श्वनाथ ने चातुर्याम जो धर्म रहा ।
और पंच-शिक्षात्मक यह जो वर्धमान का धर्म रहा ।।२३।।

एक लक्ष्य के लिये चले हम, फिर क्यों है यह भेद महान ।
द्विधा धर्म होने पर क्यों न तुम्हें संशय होता मतिमान ! ।।२४।।

केशी के कहते-कहते ही गौतम ने यों कहा, समीक्षा—
तत्त्व-निश्चयक धर्म-अर्थ की प्रज्ञा से होती सुपरीक्षा ।।२५।।

आद्य सरल-जड़ तथा वक्र-जड़ अन्तिम जिनके होते संत ।
सरल-प्राज्ञ, होते माध्यमिक अतः कि द्विधा है धर्म, भदन्त ! ।।२६।।

दुर्विशोध्य आदिम का कल्प, दुरनुपालक अन्तिम मुनिकल्प।
श्रौर माध्यमिक मुनियों का सुविशोध्य सुपालक होता कल्प ॥२७॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया यह मेरा संशय।
एक अपर संशय के बारे में भी बतलाश्रो करुणामय ! ॥२८॥

वर्धमान उपदिष्ट धर्म की यहाँ अचेलक धर्म-व्यवस्था।
महायशस्वी पार्श्वनाथ की वर्ण-विशिष्ट सचेल व्यवस्था ॥२९॥

एक लक्ष्य के लिए चले हम तो फिर यह क्यों भेद महान।
द्विधालिंग होने पर क्यों न तुम्हें संशय होता मतिमान ! ॥३०॥

केशी के कहते-कहते ही गौतम ने यों कहा, तपोधन !
जान विशिष्ट ज्ञान से धर्म-साधनों की दी श्रनुमति, भगवन ! ॥३१॥

लोक-प्रतीति हेतु की गई, विविध वस्त्रों की यहाँ कल्पना।
यात्रा-हित, ग्रहणार्थ लोक में, वेष-प्रयोजन है यह अपना ॥३२॥

मोक्ष-साधना की वास्तविक प्रतिज्ञा हो यदि तो निश्चय ही।
निश्चय नय में उसके साधन हैं चारित्र ज्ञान दर्शन ही ॥३३॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया यह मेरा संशय।
एक श्रपर संशय के बारे में भी बतलाश्रो करुणामय ! ॥३४॥

यहां सहस्रों शत्रुगणों के बीच खड़े हो तुम गौतम !
सम्मुख श्राते तेरे, उन्हें पराजित कैसे किया ? नरोत्तम ! ॥३५॥

एक जीत लेने पर पांच गए जीते, पाँचों से फिर दश।
दशों जीत कर मैं सब श्ररियों को कर लेता हूँ श्रपने वश ॥३६॥

केशी ने गौतम से कहा, कौन कहलाता शत्रु यहां पर।
केशी के कहते-कहते ही गौतम ने यों कहा वहाँ पर ॥३७॥

एक अजित श्रात्मा शत्रु है, कषाय इन्द्रिय गण भी दुश्मन।
उन्हें जीतकर, धर्म नीति पूर्वक विहार कर रहा तपोधन ! ॥३८॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया यह मेरा संशय।
एक श्रपर संशय के बारे में भी बतलाश्रो करुणामय ! ॥३९॥

दीख रहे हैं बँधे हुए प्राणी इस जग में बहुत श्रहो !
पाश मुक्त, लघुभूत वायु ज्यों कैसे तुम संचरते हो ॥४०॥

उन पाशों को काट सर्वथा, सदुपायों से करके नष्ट।
पाश-मुक्त, लघुभूत वायु ज्यों विहरन करता हूँ मैं स्पष्ट ॥४१॥

केशी ने गौतम से पूछा कहा गया है पाश किसे ?
केशी के कहते-कहते ही यों गौतम बोले फिर से ॥४२॥

प्रगाढ़ राग-द्वेष और फिर स्नेह-पाश है महा भयंकर।
उन्हें काटकर धर्म नीतिपूर्वक विहार करता हूँ मुनिवर ! ॥४३॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया यह मेरा संशय।
एक अपर संशय के बारे में भी बतलाओ करुणामय ! ॥४४॥

अन्तःस्थल-संभूत लता है जिसके फल लगते हैं विषसम।
उसे उखाड़ा कैसे तुमने, बतलाओ मेरे को, गौतम ! ॥४५॥

उस वल्ली को काट सर्वथा जड़ से उसे उखाड़ स्वतः।
यथान्याय संचरता हूं, विष भक्षण से हूं मुक्त अतः ॥४६॥

केशी ने गौतम से पूछा, कहा गया है लता किसे ?
केशी के कहते-कहते ही यों बोले गौतम फिर से ॥४७॥

भीम फलोदय भीषण भव-तृष्णा को मुनिवर ! लता कहा।
धर्म नीति अनुसार विचरता हूं मैं उसे उखाड़ यहाँ ॥४८॥

उत्तम प्रज्ञा गौतम ! तेरी, दूर किया यह मेरा संशय।
एक अपर संशय के बारे में भी बतलाओ करुणामय ! ॥४९॥

शरीरस्थ प्रज्वलित हो रही घोर अग्नियाँ गौतम ! ऐसे।
जो कि मनुज को जला रही हैं, तुमने उन्हें बुझाया कैसे ? ॥५०॥

महा मेघ से समुत्पन्न निर्झर के उत्तम जल को लेकर।
उन्हें सींचता रहता, मुझे सिक्त वे नहीं जलाती मुनिवर ! ॥५१॥

केशी ने गौतम से पूछा, कहा गया है अग्नि किन्हें ?
केशी के कहते-कहते ही गौतम ने यों कहा उन्हें ॥५२॥

पावक कहा गया कषाय को नीर कहा श्रुत शील व तप को।
श्रुत-धारा से आहत, तेज-रहित वे नहीं जलातीं मुझको ॥५३॥

उत्तम प्रज्ञा तेरो गौतम ! दूर किया मेरा यह संशय।
एक अपर संशय के बारे में भी बतलाओ करुणामय ! ॥५४॥

भीम, साहसिक, दुष्ट अश्व यह गौतम ! दौड़ रहा है सत्वर।
उस पर चढ़े हुए हो, क्यों न तुम्हें ले जाता वह उत्पथ पर ?॥५५॥

हुए भागते को मैं उसे बाँध कर श्रुत-लगाम से रखता।
अतः न उत्पथ पर चलता वह नित्य सुपथ पर है संचरता ॥५६॥

केशी ने गौतम से पूछा कहा गया है अश्व किसे ?
केशी के कहते-कहते ही गौतम यों बोले फिर से ॥५७॥

भीम, साहसिक, दुष्ट अश्व मन, दौड़ रहा है इसे शीघ्रतर।
सम्यक् निज अधीन रखता, हो गया धर्म-शिक्षा से हय वर ॥५८॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया मेरा यह संशय।
एक अपर संशय के बारे में भी बतलाओ करुणामय ! ॥५९॥

कुपथ बहुत हैं जग में जिनपर पथिक भटक जाते हैं गौतम !
पथ पर चलते हुए यहाँ फिर कैसे नहीं भटकते हो तुम ॥६०॥

सत्पथ उत्पथ पर चलने वाले मेरे को सर्व ज्ञात है।
इसीलिये हे मुने ! मैं नहीं भटक रहा हूं सही बात है ॥६१॥

केशी ने गौतम से पूछा, कहा गया है मार्ग किसे ?
केशी के कहते-कहते ही यों गौतम बोले फिर से ॥६२॥

कुप्रवचन के जो कि व्रती हैं वे सब उत्पथ पर प्रस्थित हैं।
जिनाख्यात ही पथ सत्पथ है क्योंकि वही सर्वोत्तम पथ है ॥६३॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया यह मेरा संशय।
एक अपर संशय के बारे में भी बतलाओ करुणामय ! ॥६४॥

जल के महावेग में बहते हुए प्राणियों के खातिर।
मुने ! शरण, गति, द्वीप, प्रतिष्ठा किसे मानते हो तुम फिर ?॥६५॥

लम्बा-चौड़ा महाद्वीप है एक सलिल के बीच यहाँ।
इस महान जल-प्रवाह की गति स्वल्प मात्र नहीं जहाँ ॥६६॥

केशी ने गौतम से पूछा, कहा गया है द्वीप किसे ?
केशी के कहते-कहते ही गौतम यों बोले फिर से ॥६७॥

जरा-मरण के महावेग से बहते हुए प्राणियों के हित।
उत्तम शरण प्रतिष्ठा गतिमय धर्म द्वीप है एक सुरक्षित ॥६८॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया यह मेरा संशय।
एक अपर संशय के बारे में भी बतलाओ करुणामय ! ॥६९॥

महौघ अर्णव में द्रुत गति से नाव जा रही है मँझधार।
उसमें चढ़े हुए तुम गौतम ! कैसे पहुंचोगे उस पार ?॥७०॥

जो छिद्रों वाली नौका, वह कभी न जा पाती उस पार।
लेकिन छिद्रविहीन नाव निर्विघ्न चली जाती उस पार॥७१॥

केशी ने गौतम से पूछा, कहा गया है नाव किसे ?
केशी के कहते-कहते ही यों गौतम बोले फिर से ॥७२॥

शरीर को नौका व जीव को नाविक कहा गया मतिमान।
और विश्व को कहा उदधि, तर जाते उसे मुमुक्षु महान ॥७३॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया मेरा यह संशय।
एक अपर संशय के बारे में भी बतलाओ करुणामय ! ॥७४॥

अन्ध बनाने वाले तम में, बहुत लोग कर रहे निवास।
सारे जग में उन जीवों के लिये करेगा कौन प्रकाश ?॥७५॥

समस्त लोक-प्रकाशक एक उगा है विमल भानु नभ में।
सब जीवों के लिये करेगा वह प्रकाश पूरे जग में ॥७६॥

केशी ने गौतम से पूछा कहा गया है भानु किसे ?
केशी के कहते-कहते ही गौतम यों बोले फिर से ॥७७॥

क्षीण हो चुका भव जिसका उद्गत जिन-भास्कर जो सर्वज्ञ।
सर्वलोक के जीवों के हित वही प्रकाश करेगा प्रज्ञ॥७८॥

उत्तम प्रज्ञा तेरी गौतम ! दूर किया यह मेरा संशय।
एक अपर संशय के बारे में भी बतलाओ करुणामय ! ॥७९॥

शारीरिक व मानसिक दुख पीड़ित जीवों के लिये प्रवर !
अनाबाध शिव क्षेम स्थल, तुम किसे मानते हो मुनिवर ! ॥८०॥

लोक-शिखर पर शाश्वत एक स्थान है दुरारोह जानो।
जहाँ नहीं है जरा-मृत्यु फिर व्याधि-वेदना, पहचानो ॥८१॥

केशी ने गौतम से पूछा, कहा गया है स्थान किसे ?
केशी के कहते-कहते ही गौतम यों बोले फिर से ॥८२॥

जो कि अबाध सिद्धि निर्वाण क्षेम शिव अनाबाध लोकाग्र ।
महान के खोजी ही जिसे प्राप्त करते हैं हो एकाग्र ॥८३॥

लोक-शिखर पर शाश्वत रूप अवस्थित दुरारोह वह स्थान ।
भवक्षयी मुनि जिसे प्राप्त कर शोक-मुक्त बनते धीमान ॥८४॥

मैं गत संशय हुआ, श्रेष्ठ गौतम तेरी प्रज्ञा अपार है ।
सर्व सूत्र-महोदधि ! गत-संशय ! तेरे को नमस्कार है ॥८५॥

घोर पराक्रमधर, केशी यों संशय उपरत होने पर ।
महा यशस्वी गौतम का सिर से अभिवादन कर सत्वर ॥८६॥

शुद्ध भाव से पंच-महाव्रत-धर्म किया धारण सुविशिष्ट ।
पूर्व मार्ग से सुसुखावह पश्चिम पथ में वे हुए प्रविष्ट ॥८७॥

ज्ञान शील उत्कर्षक केशी गौतमका यह मिलन हुआ ।
महा प्रयोजन वाले अर्थों का निर्णायक सिद्ध हुआ ॥८८॥

तुष्ट हुई सब जनता फिर सत्पथ में हुई उपस्थित खुश हो ।
परिषद द्वारा बहुत प्रशंसित वे केशी-गौतम प्रसन्न हों ॥८९॥

चौबीसवां अध्ययन

प्रवचनमाता

समिति व गुप्ति स्वरूप आठ प्रवचनमाताएँ हैं सुखकर।
इनमें पाँच समितियाँ हैं फिर तीन गुप्तियाँ कही प्रवर ॥१॥

इर्या भाषैषणा दान उच्चार समिति पाँचवीं कही।
मनोगुप्ति फिर वचनगुप्ति है कायगुप्ति आठवीं रही ॥२॥

अति संक्षेपतया ये आठ समितियाँ कही गई इनमें।
जिन भाषित द्वादशाङ्ग-मय प्रवचन है समाविष्ट जिनमें ॥३॥

आलम्बन, फिर काल, मार्ग, यतना, ये कारण चार प्रकार।
इनसे परिशोधित ईर्या ये गमन करे संयत सुविचार ॥४॥

ज्ञान चरण दर्शन आलम्बन हैं फिर दिन को समझो काल।
उत्पथ का वर्जन करता ईर्या का मार्ग कहा सुविशाल ॥५॥

द्रव्य क्षेत्र फिर काल भाव से यतना चार प्रकार कही।
अब उसका वर्णन करता हूं मेरे से तुम सुनो सही ॥६॥

आँखों से संपेख द्रव्य से चले क्षेत्र से भू युगमात्र।
जब तक चले काल से, सोपयोग भाव से चले गुण पात्र ॥७॥

तज स्वाध्याय पंचधा, फिर इन्द्रिय-विषयों का कर वर्जन।
तन्मय हो दे उसे प्रमुखता सोपयोग मुनि करे गमन ॥८॥

क्रोध, मान, माया व लोभ फिर हास्य, मुखरता, भय, विकथा।
करे प्रयोग न इनका, सावधान होकर मुनि रहे सदा ॥९॥

उपर्युक्त आठों स्थानों का वर्णन कर संयत धीमान।
असावद्य परिमित भाषा बोले मुनि अवसर को पहचान ॥१०॥

गवेषणा फिर ग्रहणेषणा करे परिभोगेषणा-विशोधन।
अशन, उपधि, शय्या के बारे में इन तीनों का तन्मय बन ॥११॥

पहली में उद्गम उत्पादन-शुद्धि, एषण जन्य अपर में।
करे चार दोषों का शोधन मुनि परिभोगेषणा समय में ॥१२॥

ओघ उपधि या औपग्रहिक द्विधा इन उपकरणों को दान्त।
लेने रखने में इस विधि का करे प्रयोग श्रमण उपशान्त ॥१३॥

यत्नाशील द्विधा उपकरणों को आँखों से देख तदा।
प्रतिलेखन व प्रमार्जन कर ले, रखे उन्हें मुनि समित सदा ॥१४॥

खेल, प्रस्रवण, शव, उच्चार, मैल, संघाण, उपधि, आहार।
तथा अन्य उत्सर्ग-योग्य को यतना से परठे हर बार ॥१५॥

न आए, देखे न, फिर देखे, वहाँ आए नहीं।
न देखे, आए तथा आए व देखे भी नहीं ॥१६॥

अनापात व असंलोक परोपघातक जो न हो।
और अशुषिर, सम व अचिर अचित्त स्थंडिल स्थान हो ॥१७॥

विस्तृत, नीचे तक अचित फिर त्रस प्राणी बिल बीज विवर्जित।
पुर अनिकट स्थल में उच्चार आदि उत्सर्ग करे, गुण अर्जित ॥१८॥

कही गई हैं पाँच समितियाँ ये संक्षिप्ततया सुखकर।
तीन गुप्तियां क्रमशः यहां कहूंगा उन्हें सुनो यतिवर ॥१९॥

सत्या, मृषा व सत्यामृषा, असत्यामृषा चतुर्थी जान।
मनोगुप्तियाँ चार कहीं हैं सुनो शिष्य धर ध्यान ॥२०॥

समारम्भ आरम्भ और संरम्भ प्रवर्तमान मन का।
करे निवर्तन, यतनाशील, रखे नित ध्यान श्रमणपन का ॥२१॥

सत्या, मृषा व सत्यामृषा, असत्यामृषा चतुर्थी जान।
वचन गुप्तियाँ चार प्रकार की कही हैं, समझो शिष्य सुजान ॥२२॥

समारम्भ आरम्भ और संरम्भ-प्रवृत्त वचन का सद्य।
करे निवर्तन यतनाशील श्रमण पाले संयम अनवद्य ॥२३॥

उल्लंघन व प्रलंघन और ठहरने या कि बैठने में।
पांच इन्द्रियों के व्यापार तथा फिर यहाँ लेटने में ॥२४॥

समारंभ आरंभ और संरम्भ प्रवर्तमान तन का।
करे निवर्तन यतनाशील, रखे नित ध्यान श्रमणपन का ॥२५॥

चरण-प्रवर्तन-हित ये पांचों कहीं समितियाँ श्रमण प्रवीण।
सर्व अशुभ विषयों से निर्वर्तन-हित कही गुप्तियाँ तीन ॥२६॥

जो इन प्रवचनमाताओं का सम्यक् पालन करता है।
वह पंडित संसार-चक्र से शीघ्र मुक्त हो जाता है ॥२७॥

पचीसवाँ अध्ययन

यज्ञीय

ब्राह्मण-कुल-उत्पन्न एक जयघोष नाम का विप्र वहाँ पर।
महा यशस्वी था वह हिंसाजन्य यज्ञ में रहता तत्पर ॥१॥

इन्द्रिय-निग्रह करने वाला वह बन गया श्रमण पथगामी।
प्रति ग्राम संचरता वाराणसी पुरी पहुँचा शिवकामी ॥२॥

वाराणसी नगर के बाहर था उद्यान मनोरम नाम।
प्रासुक शय्या संस्तारक ले रहने लगा वहाँ गुणधाम ॥३॥

उसी समय उस पुर में एक वेद-विज्ञाता रहता था।
विजयघोष नामक वर ब्राह्मण वहाँ यज्ञ वह करता था ॥४॥

एक दिवस जयघोषाऽभिध मुनि मासक्षपण तप-पारण कार्य।
विजयघोष के ब्रह्म यज्ञ में हुआ उपस्थित वह भिक्षार्थ ॥५॥

निषेध करते हुए कहा याजक ने उसके आने पर।
तुम्हें न भिक्षा दूंगा जा अन्यत्र याचना कर मुनिवर ॥६॥

वेद विज्ञ, फिर ज्योतिषांग विद्, धर्मशास्त्र-पारंगत ब्राह्मण।
द्विज हैं जो कि यज्ञ के लिए, बना यह उनके खातिर भोजन ॥७॥

निज का, पर का समुद्धार करने में जो कि समर्थ महान।
भिक्षो ! सर्व काम्य यह अन्न उन्हें प्रदेय है तू पहचान ॥८॥

यों याजक के निषेधने पर उत्तम-अर्थ गवेषक, क्षान्त।
नहीं हुआ है रुष्ट, तुष्ट वह, रहा महा मुनिवर उपशान्त ॥९॥

अन्न-सलिल या जीवन-यापन हित न कहा मुनि ने कुछ भी।
लेकिन उनके मुक्ति-हेतु यों कहा श्रमण ने वहाँ तभी ॥१०॥

नहीं जानता वेदों का मुख यज्ञों का मुख तू न जानता।
नक्षत्रों के मुख को तथा धर्म के मुख को भी न जानता ॥११॥

यहाँ स्व-पर का समुद्धार करने में सक्षम हैं जो विप्र।
नहीं जानता उन्हें, जानता है तो बता, मुझे तू क्षिप्र ॥१२॥

मुनि के प्रश्नों का उत्तर देने में वह होकर असमर्थ ।
सह परिषद कर जोड़ महा मुनि से यों द्विज ने पूछा अर्थ ॥१३॥

वेदों का मुख क्या है ? यज्ञों का मुख क्या है ? तुम्हीं बताओ ।
नक्षत्रों का मुख क्या है ? धर्मों का मुख क्या है जतलाओ ॥१४॥

निज का पर का समुद्धार करने में जो सक्षम है साधो !
यह सारा संशय है, मेरे प्रश्नों का तुम समाधान दो ॥१५॥

वेदों का मुख अग्निहोत्र है, यज्ञार्थी यज्ञों का मुख है ।
नक्षत्रों का मुख हिमकर है, काश्यप-जिन धर्मों का मुख है ॥१६॥

ग्रहगण हाथ जोड़ वन्दन प्रणमन करते रहते शशि-सम्मुख ।
विनय भाव से मनोहरण करते त्यों सभी ऋषभप्रभु-सम्मुख ॥१७॥

जो कि यज्ञवादी हैं वे ब्राह्मण-संपद्—विद्या-अनभिज्ञ ।
भस्माच्छन्न अग्नि ज्यों, तप-स्वाध्याय-गूढ़ बाहर में, अज्ञ ॥१८॥

जिसे कुशल पुरुषों द्वारा जग में है कहा गया ब्राह्मण ।
सदा अग्नि ज्यों पूजित जो है, उसको हम कहते ब्राह्मण ॥१९॥

आने पर आसक्त व जाने पर न करे जो शोक श्रमण ।
आर्य-वचन में रमण करे जो उसको हम कहते ब्राह्मण ॥२०॥

शिखि से तपा हुआ फिर घिसा हुआ होता ज्यों शुद्ध सुवर्ण ।
राग, दोष, भय-वर्जित जो है, उसको हम कहते ब्राह्मण ॥२१॥

[मांस-रुधिर-अपचय है जिसके, दान्त तपस्वी जो कृश-तन ।
जो सुव्रत है और शान्त है उसको हम कहते ब्राह्मण ॥]

त्रस स्थावर सब जीवों को जो भलीभाँति पहचान श्रमण ।
मन वच तन से उन्हें न मारे, उसको हम कहते ब्राह्मण ॥२२॥

क्रोध लोभ भय हास्य वशंगत हो, न बोलता झूठ वचन ।
त्रिकरण योग सत्यवादी है, उसको हम कहते ब्राह्मण ॥२३॥

जो कि सचित्त अचित्त अल्प या बहुत अदत्त न करे ग्रहण ।
त्रिविध पालता है इस व्रत को उसको हम कहते ब्राह्मण ॥२४॥

सुर, तिर्यञ्च, मनुज-सम्बन्धी मिथुन नहीं करता सेवन ।
मन वच तन से ब्रह्मचर्य-रत को हम कहते हैं ब्राह्मण ॥२५॥

सलिलोत्पन्न कमल ज्यों जल से लिप्त न होता त्यों मुनिगण ।
भोगों से नित रहे अलिप्त, उसे हम कहते हैं ब्राह्मण ॥२६॥

जो कि अलोल, मुधाजीवी, अनगार अकिंचन है मुनिजन ।
अनासक्त है गृहि-जन में, उसको हम कहते हैं ब्राह्मण ॥२७॥

[छोड़ पूर्व संयोग, ज्ञाति बान्धव को तज बना श्रमण ।
उनमें फिर आसक्त न होता, उसको हम कहते ब्राह्मण ॥]

पशु-वध-बन्धन-हेतु वेद सब, पाप-हेतु सब यज्ञ रहे ।
कुशील के ये त्राण न होते, क्योंकि कर्म बलवान कहे ॥२८॥

सिर-मुंडन से श्रमण व ओम मात्र जप से ना ब्राह्मण होता ।
मुनि न अरण्य-वास से सिर्फ न कुश चीवर से तापस होता ॥२९॥

समभावों से होता श्रमण व ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से जान ।
ज्ञान-मनन से मुनि होता, तप से तापस होता गुणवान ॥३०॥

होता मनुज कर्म से ब्राह्मण और कर्म से क्षत्रिय होता ।
होता वैश्य कर्म से ही फिर शूद्र कर्म से ही वह होता ॥३१॥

इन्हें बुद्ध ने प्रकट किया इनसे स्नातक होता है जन ।
जो सब कर्म-मुक्त होता है उसको हम कहते ब्राह्मण ॥३२॥

इस प्रकार गुण-युक्त द्विजोत्तम जो दुनियां में होते हैं ।
निज का पर का समुद्धार करने में सक्षम होते हैं ॥३३॥

यों संदेह दूर होने पर विजयघोष ब्राह्मण ने आखिर ।
भलीभांति जयघोष महामुनि की वाणी को समझा है फिर ॥३४॥

विजयघोष संतुष्ट हुआ, मुनि से कर जोड़ कहा उसने ।
यथार्थ ब्राह्मणपन का सुन्दर अर्थ मुझे समझाया तुमने ॥३५॥

तुम यज्ञों के यज्ञ-विधाता तुम हो वेदों के विज्ञाता ।
ज्योतिषांग विद् और धर्म के पारंगत हो तुम व्याख्याता ॥३६॥

निज का पर का समुद्धार करने में तुम्हीं समर्थ यहां पर ।
अतः अनुग्रह तुम भिक्षा लेने का हम पर करो भिक्षुवर! ॥३७॥

मुझे न भिक्षा से मतलब है तुम झट दीक्षा ग्रहण करो ।
भय-आवर्त्त घोर संसार-सिन्धु में अब मत भ्रमण करो ॥३८॥

भोगों में होता उपलेप, अभोगी लिप्त नहीं हो पाता ।
भोगी जग में करता भ्रमण अभोगी विप्रमुक्त हो जाता ॥३६॥

गीला सूखा मिट्टी के दो गोले फेंके गए भीत पर ।
उनमें जो गीला गोला था चिपक गया वह शीघ्र वहीं पर ॥४०॥

इस प्रकार दुर्बुद्धि काम आसक्त चिपट जाते विषयों से ।
जो विरक्त सूखे गोले सम, वे न चिपटते हैं विषयों से ॥४१॥

यों जयघोष श्रमण से उत्तम धर्म श्रवण कर महामना ।
अब वह विजयघोष निज गेह छोड़ कर झट प्रव्रजित बना ॥४२॥

तप संयम से पूर्वार्जित कर्मों को क्षय कर शुद्ध मति ।
विनयघोष जयघोष पा गए शीघ्र अनुत्तर सिद्धि-गति ॥४३॥

छब्बीसवाँ अध्ययन

सामाचारी

सब दुख-मुक्तिप्रदा सामाचारी का यहाँ कहूंगा स्फुटतर ।
जिसका आराधन करके तिर गए भवोदधि को झट मुनिवर ॥१॥

पहली आवश्यकी दूसरी नैषेधिकी कही मतिमान ।
आपृच्छना तीसरी प्रतिप्रच्छना चतुर्थी है पहचान ॥२॥

है छन्दना पांचवीं फिर है छट्ठी इच्छाकार महान ।
मिथ्याकार सातवों, तथाकार नामक आठवीं प्रधान ॥३॥

नौवीं अभ्युत्थान व दशवीं उपसंपदा कही विख्यात ।
मुनियों की यह दशांगमय सामाचारी है जिन-आख्यात ॥४॥

करे गमन में आवश्यकी व नैषेधिकी प्रवेश-काल में ।
नैज कार्य में आपृच्छा, प्रतिपृच्छा करे सुकार्य अपर में ॥५॥

द्रव्यों से छन्दना करे व सारणा में है इच्छाकार ।
प्रतिश्रवण में तथाकार है, अनाचरित में मिथ्याकार ॥६॥

गुरु-पूजा में अभ्युत्थान, अपर गण के गुरुवर के पास—
रहने हित ले उपसंपदा, सामाचारियाँ दश विध खास ॥७॥

प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में सूर्योदय होने पर ।
भांडोपधि की प्रतिलेखना करे फिर गुरु को वन्दन कर ॥८॥

हाथ जोड़ पूछे गुरु से क्या करना मझे चाहिए भगवन !
सेवा या स्वाध्याय, एक में करें नियुक्त मुझे अब शुभ मन ॥९॥

सेवा में योजित करने पर ग्लानि-रहित हो उसे करे ।
सब दुखहर स्वाध्याय-नियोजित करने पर स्वाध्याय करे ॥१०॥

बुद्धिमान प्रविक्षण संयत दिन के चार विभाग करे ।
उन चारों भागों में उत्तरगुण की आराधना करे ॥११॥

प्रथम प्रहर में मुनि स्वाध्याय करे व दूसरे में फिर ध्यान ।
भिक्षाचरी तीसरे में चौथे में फिर स्वाध्याय महान ॥१२॥

है आषाढ़ मास में दो पद, चार पाद-मित पौष मास में।
त्रिपद-प्रमाण पौरुषी होती है आश्विन फिर चैत्र मास में ॥१३॥

सात रात में एकांगुल व पक्ष में दो अंगुल परिणाम।
एक मास में चतुरंगुल घटती-बढ़ती छाया पहचान ॥१४॥

शुचि भाद्र व कार्तिक व पौष फाल्गुन व माघ के कृष्ण पक्ष का।
एक रात-दिन कम होता, होता पखवारा चौदह दिन का ॥१५॥

ज्येष्ठादिक त्रिक में छह आठ अपर त्रिक में प्रतिलेखन-बेला।
तृतीय में दश, चौथे त्रिक में आठ अधिक आंगुल पर, चेला! ॥१६॥

बुद्धिमान प्रविचक्षण संयत निशि के चार विभाग करे।
उन चारों भागों में उत्तरगुण-गण आराधना करे ॥१७॥

प्रथम प्रहर में मुनि स्वाध्याय करे व दूसरे में सद्ध्यान।
प्रहर तीसरे में निद्रा, चौथे में फिर स्वाध्याय महान ॥१८॥

जो नक्षत्र रात्रि की पूर्ति करे वह नभ के तूर्य भाग में।
आ जाए तब हो जाए स्वाध्याय-विरक्त, प्रदोष-काल में ॥१९॥

वह नक्षत्र गगन के तूर्य भाग जितना अवशेष रहे जब।
वैरात्रिक वह काल जान, स्वाध्याय-रक्त हो जाए मुनि तब ॥२०॥

दिन के प्रथम प्रहर के तूर्य भाग में भंड-उपधि प्रतिलेखन—
करके, गुरु वन्दन कर, दुख-नाशक स्वाध्याय करे तन्मय बन ॥२१॥

पौन पौरुषी समय बीतने पर गुरु को वन्दना श्रमण कर।
किए बिना प्रतिक्रमण काल का, भाजन प्रतिलेखना करे फिर ॥२२॥

मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन कर गोच्छक प्रतिलेखना करे।
अंगुलि-गृहीत गोच्छक, फिर वस्त्रों की प्रतिलेखना करे ॥२३॥

देख ऊर्ध्व स्थिर रखे वस्त्र को फिर झटकाए उसे तथा।
फिर प्रमार्जना करे तीसरे में, मुनि करे नहीं त्वरता ॥२४॥

न नचाए, मोड़े न, अलक्षित, स्पर्शित करे नहीं मुनिवर।
नौ खोटक षट्पूर्व करों से प्राणि-विशोधन करे प्रवर ॥२५॥

आरभटा सम्मर्दा फिर मौशली व प्रस्फोटना कही।
विक्षिप्ता वेदिका दोष छह, प्रतिलेखन में तजे सही ॥२६॥

प्रशिथिल प्रलम्ब लोल व एकामर्शा अनेक रूप धूनना।
प्रमाण में करना प्रमाद शंका होने पर गिनती करना ॥२७॥

अनतिरिक्त अन्यून व अविपरीत प्रतिलेखन है कर्तव्य।
प्रथम विकल्प प्रशस्त शेष सातों पद अप्रशस्त ज्ञातव्य ॥२८॥

प्रतिलेखना में काम-कथा करता फिर जनपद कथा कभी।
प्रत्याख्यान कराता पढ़ना स्वयं, पढ़ाना, दोष सभी ॥२९॥

प्रतिलेखन में जो प्रमत्त होता है वह षट्काय-विराधक।
पृथ्वी, पानी, तेजस्, मारुत, हरित व त्रस जीवों का घातक ॥३०॥

[प्रतिलेखन में अप्रमत्त, होता षट् कायों का आराधक।
भू, अप्, अग्नि, समीर, हरित, त्रस जीव-गणों का नहीं विराधक ॥]

छहों कारणों में से कोई एक उपस्थित होने पर।
अन्न-सलिल की करे एषणा प्रहर तीसरे में मुनिवर ॥३१॥

क्षुधा-शान्ति-हित वैयावृत्य व ईर्या-हित संयम-हित रोज।
जीवित रहने-हित व धर्म-चिन्तन-हित करे अशन की खोज ॥३२॥

धैर्यवान साधु व साध्वी गण ये, छह कारण होने पर।
संयम अनितिक्रमण-हेतु, न करे भोजन की खोज प्रवर ॥३३॥

आतङ्कोपसर्ग में ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिए श्रमण।
जीव-दया तप हेतु व तन-विच्छेद हेतु न करे भोजन ॥३४॥

सर्व उपधि पात्रों को लेकर देख चक्षु से कर प्रतिलेखन।
अधिकाधिक आधे योजन तक भिक्षा के हित जाए शुभ मन ॥३५॥

तूर्य प्रहर में प्रतिलेखन पूर्वक पात्रों को बांध रखे नित।
फिर वह सर्व भाव-भासक स्वाध्याय करे हो एकान्त-स्थित ॥३६॥

तूर्य प्रहर के तूर्य भाग में मुनि स्वाध्याय-विरत होकर।
गुरु-वन्दन कर शय्या का प्रतिलेखन करता तदनन्तर ॥३७॥

यत्नशील उच्चार-प्रस्रवण-भू की प्रतिलेखना करे।
तदनन्तर सब दुःख-विनाशक सुखकर कायोत्सर्ग करे ॥३८॥

दिवस सम्बन्धी अतिचारों का क्रमशः चिन्तन करे मुनि।
दर्शन ज्ञान चरण में लगे हुए दोषों को हरे गुणी ॥ ॥३९॥

कायोत्सर्ग पूर्ण कर तदनन्तर गुरु को वन्दना करे।
दिवस-सम्बन्धी अतिचारों की क्रमशः आलोचना करे ॥४०॥

प्रतिक्रमण से शल्य-रहित हो फिर गुरु को वन्दना करे।
ततः सर्व दुःखों को हरने वाला कायोत्सर्ग करे ॥४१॥

कायोत्सर्ग पूर्ण कर फिर गुरु को वन्दना करे धृतिधर।
फिर स्तुति-मंगल करके प्रतिलेखना काल की करे प्रवर ॥४२॥

प्रथम प्रहर में मुनि स्वाध्याय करे व दूसरे में फिर ध्यान।
प्रहर तीसरे में निद्रा, स्वाध्याय तूर्य में करे सुजान ॥४३॥

ततः चतुर्थ प्रहर में प्रतिलेखना काल की कर गुणवान।
असंयतों को नहीं जगाता हुआ करे स्वाध्याय महान ॥४४॥

तूर्य प्रहर के तूर्य भाग में मुनि स्वाध्याय विरत होकर।
गुरु को कर वन्दना, काल की प्रतिलेखना करे यतिवर ॥४५॥

सब दुखहारी कायोत्सर्ग समय होने पर साधक वर्ग।
करे सर्व दुःखों को हरनेवाला, सुखकर कायोत्सर्ग ॥४६॥

निशि सम्बन्धी अतिचारों का क्रमशः चिन्तन करे गुणी।
दर्शन ज्ञान चरण तप के अतिचारों को फिर हरे मुनी ॥४७॥

कायोत्सर्ग पूर्ण कर तदनन्तर गुरु को वन्दना करे।
फिर वह रात्रिक अतिचारों की क्रमशः आलोचना करे ॥४८॥

प्रतिक्रमण कर शल्य-रहित हो फिर गुरु को वन्दना करे।
ततः सर्व दुःखों को हरने वाला कायोत्सर्ग करे ॥४९॥

तप कौन सा करूँ मैं यों ध्यान-स्थित चिंतन करे प्रवर।
कायोत्सर्ग पूर्ण कर फिर गुरु को वन्दना करे यतिवर ॥५०॥

कायोत्सर्ग पूर्ण कर गुरु को करे वन्दना तदनन्तर।
तप को कर स्वीकार ततः सिद्धों की स्तवना करे प्रवर ॥५१॥

यह संक्षिप्त कही है मैंने सामाचारी सुखद सुजान।
इसे धार कर जीव बहुत भवसागर को तिर गए महान ॥५२॥

सताईसवाँ अध्ययन

खलुंकीय

शास्त्र-विशारद गणधर स्थविर गर्ग मुनि गुणाकीर्ण विद्वान ।
गणी पदस्थित हो करता था वह समाधि का प्रति संधान ॥१॥

करते हुए वहन वाहन को वृष के वन होता उल्लंघित ।
योग-वहन करते मुनि के संसार स्वयं त्यों होता लंघित ॥२॥

दुष्ट बैल का योजक आहत करता हुआ क्लेश पाता ।
अनुभवता असमाधि व उसका चाबुक शीघ्र टट जाता ॥३॥

बार-बार बींधता किसी को किसी एक की पूंछ काटता ।
समिल तोड़कर कोई दुष्ट वृषभ तब उत्पथ में चल पड़ता ॥४॥

करवट ले गिर पड़ता, सो जाता व बैठ जाता कोई ।
उछल-कूद कर तरुण गाय की ओर भागता शठ कोई ॥५॥

कपटी सिर निढाल कर लुटता, कोई क्रोधित प्रतिपथ चलता ।
मृत की ज्यों गिरता कोई द्रुतगति से बैल भागता ॥६॥

रास काट देता छिनाल, दुर्दान्त जुए को देता तोड़ ।
सौं-सौं कर वाहन को छोड़ बैल कोई जाता है दौड़ ॥७॥

धर्मयान-योजित कुशिष्य भी दुष्ट-योज्य वृष की ज्यों होते ।
धर्मयान को तोड़ गिराते जो दुर्बल-धृति वाले होते ॥८॥

कोई शिष्य ऋद्धि का गौरव कोई रस-गौरव करता है ।
कोई साता गौरव करता कोई सुचिर क्रोध करता है ॥९॥

भिक्षा में आलस्य करे कोई अपमान-भीरु अभिमानी ।
हेतु कारणों से अनुशासित करते किसही को गुरु ज्ञानी ॥१०॥

तब बोलता बीच में कोई मन में प्रकट द्वेष करता है ।
बार-बार गुरु के वचनों के विरुद्ध में कोई चलता है ॥११॥

वह न जानती मुझे, न देगी मुझे, जानता हूँ वह बाहर—
चली गई होगी, मैं ही क्यों ? कोई अन्य चला जाए फिर ॥१२॥

प्रेषित करते हैं अपलाप, सर्वतः परिभ्रमण करते हैं।
नृप-बेगार मान करते हैं कार्य व मुँह मचोट लेते हैं ॥१३॥

दीक्षित शिक्षित उन्हें किया फिर भोजन-पानी से परिपुष्ट।
ज्यों कि पाँख आनेपर हंस विविध दिशि में, त्यों फिरते दुष्ट ॥१४॥

खिन्न कुशिष्यों से होकर आचार्य सोचते हैं दुःखाकुल।
दुष्ट कुशिष्यों से क्या मुझे ? व मेरी आत्मा होती व्याकुल ॥१५॥

जैसे गलिगर्दभ होते हैं वैसे मेरे हैं कुशिष्य सब।
इन गलिगर्दभ शिष्यों को तज, दृढ़ मन तप को ग्रहण किया तब ॥१६॥

मृदु मार्दव सम्पन्न महात्मा सुसमाहित गंभीर महान।
शील युक्त होकर पृथ्वी पर लगा विचरने वह मतिमान ॥१७॥

अठाईसवाँ अध्ययन

मोक्ष-मार्ग-गति

दर्शन-ज्ञान चिन्हवाली फिर चार कारणों से संयुक्त।
तथ्य जिनोक्त मोक्ष-पथ की गति को मुझ से सुन हो उपयुक्त ॥१॥

ज्ञान तथा दर्शन चारित्र व तप जो विविध प्रकार रहा।
वरदर्शी जिनवर ने मोक्ष-मार्ग यह चार प्रकार कहा ॥२॥

ज्ञान व दर्शन तथा चरण तप मय निर्मल पथ को अपनाकर।
प्राणी गण सद्गति में जाते हैं अघमल को दफनाकर ॥३॥

तत्र पंचधा ज्ञान यथा—श्रुत ज्ञान व आभिनिबोधिक ज्ञान।
अवधि ज्ञान तीसरा, मनोज्ञान फिर अन्तिम केवल ज्ञान ॥४॥

द्रव्य तथा गुण की समस्त पर्यायों का अवबोधक जान।
ज्ञानी पुरुषों ने यह पांच प्रकार कहा है ज्ञान महान ॥५॥

द्रव्य गुणाश्रय को कहते हैं एक द्रव्य आश्रित गुण हैं।
दोनों के आश्रित रहना यह पर्यायों के लक्षण हैं ॥६॥

धर्माधर्माकाश काल फिर पुद्गल अन्तिम जीव रहा।
वरदर्शी अर्हन्तों ने यह षट्-द्रव्यात्मक लोक कहा ॥७॥

धर्माधर्माकाश तीन ये एक-एक हैं द्रव्य महान।
काल जीव पुद्गल ये तीन अनन्त-अनन्त द्रव्य पहचान ॥८॥

गति-लक्षण है धर्म तथा स्थिति-लक्षण रूप अधर्म कहा।
सब द्रव्यों का भाजन यह अवगाह-लक्ष्य आकाश रहा ॥९॥

काल वर्तना लक्षण है उपयोग लक्ष्य वाला है जीव।
ज्ञान व दर्शन सुख-दुख से पहचाना जाता शीघ्र सजीव ॥१०॥

ज्ञान तथा दर्शन चारित्र व तप उपयोग वीर्य पहचान।
ये सब लक्षण कहे जीव के शिष्य सुनो देकर अब ध्यान ॥११॥

शब्द, ध्वान्त, उद्योत, प्रभा, छाया, फिर आतप है मतिमान।
वर्ण, गंध, फिर रस, स्पर्श ये पुद्गल के हैं चिन्ह महान ॥१२॥

हैं पृथक्त्व, एकत्व व संख्या और सभी संस्थान सही।
पर्यायों के लक्षण ये संयोग विभाग कहे सब ही ॥१३॥

जीव अजीव पुण्य पापाश्रव संवर और निर्जरा जान।
बन्ध मोक्ष ये हैं नौ तत्त्व इन्हें तू भलीभाँति पहचान ॥१४॥

इन सब तथ्य भाव सद्भाव-निरूपण में जो अन्तःस्थल से।
श्रद्धा करता है सम्यक्त्व, उसे होता, सुकथित प्रभुवर से ॥१५॥

निसर्ग रुचि, उपदेश व आज्ञा, सूत्र, बीज, अभिगम रुचि है।
फिर विस्तार, क्रिया, संक्षेप तथा फिर समझ धर्म-रुचि है ॥१६॥

आत्म-जन्य यथार्थ ज्ञान से जीव-अजीव पुण्य फिर पाप।
आश्रव संवर पर श्रद्धा करता वह निसर्ग-रुचि है साफ ॥१७॥

अर्हद्-दृष्ट चतुर्विध से तत्त्वों पर रखे स्वयं विश्वास।
एवमेव अन्यथा नहीं, ज्ञातव्य निसर्ग-रुचि वही खास ॥१८॥

उपर्युक्त भावों को जिन या छद्मस्थों से सुन मतिमान।
उन पर श्रद्धा करे उसे उपदेश-रुचि कहा है पहचान ॥१९॥

राग, द्वेष तथा अज्ञान व मोह दूर हो जाने पर।
वीतराग की आज्ञा में रुचि रखता वह आज्ञा-रुचिवर ॥२०॥

अंगबाह्य या अंगप्रविष्ट सूत्र को पढ़ता हुआ सुजान।
जो पाता सम्यक्त्व उसी का नाम सूत्र-रुचि है पहचान ॥२१॥

एक तत्त्व से अनेक तत्त्वों में फैलता यहाँ सम्यक्त्व।
जल में तैल-बिन्दु की ज्यों सम्यक्त्व बीज-रुचि है ज्ञातव्य ॥२२॥

ग्यारह अंग, प्रकीर्णक, दृष्टिवाद आदिक आगम शुचि है।
अर्थ-सहित है श्रुतज्ञान जिसको, वह नर अभिगम-रुचि है ॥२३॥

सभी प्रमाण व सब नय विधियों से द्रव्यों के सभी भाव फिर।
है उपलब्ध जिसे वह कहलाता विस्तार-सुरुचि वाला नर ॥२४॥

दर्शन ज्ञान चरण तप विनय सत्य समिति व गुप्ति में जान।
क्रिया भावरुचि है जिसकी वह क्रिया-सुरुचि सम्यक्त्व महान ॥२५॥

अनभिगृहीत कुदृष्टि व जिन-प्रबचन अविशारद परम शुचि।
परमत अज्ञ व स्वल्प ज्ञान से श्रद्धानत संक्षेप-रुचि ॥२६॥

जो जिन-सुकथित अस्तिकाय श्रुत-चरण-धर्म में पूर्णतया ।
श्रद्धा रखता उसे धर्म-रुचि समझो, जिसके हृदय दया ॥२७॥

परम-अर्थ-परिचय, सुदृष्ट परमार्थ निसेवन है पहचान ।
फिर व्यापन्न-कुदर्शनीक-वर्जन, सम्यग्दर्शन-श्रद्धान ॥२८॥

दर्शन विना न चरण, चरण की दर्शन में भजना पहचान ।
दोनों सह होते, न जहाँ सह होते पहले दर्शन जान ॥२९॥

अदर्शनी के ज्ञान न होता बिना ज्ञान चारित्र नहीं ।
बिना चरण-गुण मुक्ति नहीं, पाता अमुक्त निर्वाण नहीं ॥३०॥

निःशंका निष्कांक्षा निर्विचिकित्सा अमूढ़दृष्टि स्पष्ट है ।
उपबृंहण वात्सल्य व स्थिरीकरण प्रभावना अंग अष्ट है ॥३१॥

सामायिक है पहला छेदोपस्थान दूसरा कहा ।
फिर परिहार-विशुद्धिक तथा सूक्ष्म-संपराय तूर्य रहा ॥३२॥

यथाख्यात अकषाय चरण छद्मस्थ व जिनवर के होता है ।
कर्म रिक्त करते हैं अतः इन्हें चरित्र कहा जाता है ॥३३॥

बाह्याऽभ्यन्तर विभेद से तप दो प्रकार से अभिहित है ।
षड् विध तप है बाह्य तथा आभ्यन्तर तप भी षड् विध है ॥३४॥

तत्त्वों को जानता ज्ञान से, दर्शन से श्रद्धा करता है ।
निग्रह करता है चरित्र से, तप से जीव शुद्ध बनता है ॥३५॥

जो महर्षि-गण सब दुख प्रक्षीणार्थ पराक्रम हैं नित करते ।
संयम तप से पूर्वार्जित कर्मों को खपा, सिद्धि को वरते ॥३६॥

उनतीसवाँ अध्ययन

सम्यक्त्व-पराक्रम

भगवत्-प्रतिपादित मैंने यों यहां सुना आयुष्मन् ! निश्चय।
यह सम्यक्त्व-पराक्रम नामाऽध्ययन इसे सुन होकर तन्मय ॥१॥

महावीर भगवान श्रमण काश्यप से जो कि प्रवेदित सुन्दर।
जिसमें सम्यक् श्रद्धा दृढ़ कर तथा प्रतीति और रुचि रखकर ॥२॥

स्पर्शन कर, स्मृति में रखकर व हस्तगत कर व निवेदन कर।
शोधन-आराधन कर अर्हद् की आज्ञा से पालन कर ॥३॥

जीव अनेकों सिद्ध-बुद्ध होते हैं मुक्त शुद्ध अत्यन्त।
वे निर्वाण प्राप्त करते हैं सब दुःखों का करके अन्त ॥४॥

कहा गया है उसका इस प्रकार से सम्यग् अर्थ यथा—
है संवेग[1] और निर्वेद[2] व अटल धर्म-विश्वास[3] तथा ॥५॥

गुरु-साधर्मिक[4] की सेवा फिर आलोचना[5] व निन्दा[6] जान।
गर्हा[7] सामायिक[8] व चतुर्विंशति-स्तवना[9] वन्दन[10] पहचान ॥६॥

प्रतिक्रमण[11] फिर कायोत्सर्ग[12] तथा फिर प्रत्याख्यान[13]-वरण।
स्तव-स्तुति-मंगल[14] तथा काल-प्रतिलेखन[15], प्रायश्चित्त-करण[16] ॥७॥

क्षमापना,[17] स्वाध्याय,[18] वाचना[19], प्रतिप्रच्छन्ना,[20] मोक्ष का साधन।
परावर्तना[21] फिर अनुप्रेक्षा,[22] धर्मकथा,[23] श्रुत का आराधन[24] ॥८॥

मनकी एकाग्रता[25] व संयम,[26] तप,[27] व्यवदान,[28] सुखेच्छा-त्याग[29]।
अप्रतिबद्धता,[30] विविक्त-शयनासन,[31] फिर विनिवर्तना[32] सुभाग ॥९॥

है संभोग-त्याग[33] फिर उपधि-त्याग[34] है अशन-त्याग[35] सुखकार।
कषाय-त्याग[36] योग का त्याग[37] फिर शरीर-त्याग[38] उदार ॥१०॥

सहायत्याग[39] भक्त-परित्याग[40] तथा सद्भाव[41] त्याग उत्कृष्ट।
प्रतिरूपता[42] व वैयावृत्य[43] सर्वगुण-संपन्नता[44] विशिष्ट ॥११॥

---

१. १ से लेकर ७३ तक की यह क्रमिक संख्या सम्यक्त्व-पराक्रम के अर्थाङ्गों की है।

वीतरागता,[४५] क्षान्ति,[४६] मुक्ति,[४७] आर्जव,[४८] मार्दव[४९] फिर भाव-सत्य[५०] है।
करण-सत्य[५१], फिर योग-सत्य[५२], मन[५३] वचन[५४] देह[५५] की गुप्ति तथ्य है ।।१२।।

मन[५६] व वचन[५७] तन-समाधारणा[५८], ज्ञान[५९] व दर्शन[६०] चरण[६१] पूर्णता।
श्रोत्र-[६२]चक्षु[६३] फिर घ्राण[६४]-रसन-[६५]स्पर्शन[६६]-इंद्रियनिग्रह निर्मलता ।।१३।।

क्रोध[६७] मान[६८] माया[६९] व लोभ[७०] जय, राग-दोष-मिथ्यादर्शन-जय[७१]।
शैलेशी[७२] फिर अकर्मता[७३] ये इसके द्वार कहे हैं सुखमय ।।१४।।

सुसंवेग[१] से हे भगवन् ! यह जीव प्राप्त क्या करता है ?
सुसंवेग से परमधर्म-श्रद्धा को जागृत करता है ।।१५।।

परमधर्म की श्रद्धा से फिर वह संवेग अधिक पाता है।
अनंतानुबंधी क्रोध, मान, कपट व लोभ क्षय कर पाता है ।।१६।।

नये कर्म बांधता नहीं व कषाय-क्षीण से मिथ्यादर्शन—
की विशुद्धि कर फिर करता है सम्यग्दर्शन का आराधन ।।१७।।

दर्शन-शुद्धि-विशुद्ध कई उस भव में हो जाते हैं सिद्ध।
किन्तु तीसरे भव का तो अतिक्रमण न कर सकते संशुद्ध ।।१८।।

सुनिर्वेद[२] से भगवन् ! यहाँ प्राप्त क्या करता है फिर प्राणी।
इससे सुर-नर-तिर्यंग जनित कामभोगों से होती ग्लानी ।।१९।।

सब विषयों से विरक्त हो आरम्भ-त्याग फिर करता सद्य।
संसृति-पथ का कर विच्छेद, सिद्धि-पथ अपनाता अनवद्य ।।२०।।

धार्मिक-श्रद्धा[३] से हे भगवन ! प्राणी किस फल को है पाता ?
इससे विषय-सुखों की गृद्धि छोड़, मानव विरक्त हो जाता ।।२१।।

ततः गृहस्थी त्याग सर्वथा, वह होकर अनगार प्रमुख।
छेदन-भेदन संयोगादिक शरीरिक व मानसिक दुःख ।।२२।।

इन उपरोक्त सभी दुःखों का वह करके विच्छेद तुरन्त।
अव्याबाध सुखों को श्रमण प्राप्त कर, लेता भव का अन्त ।।२३।।

गुरु[४] साधर्मिक की सेवा से भन्ते ! प्राणी क्या पाता ?
गुरु साधर्मिक सेवा से वह विनय धर्म को अपनाता ।।२४।।

---

१. १ से ७१ क्रमांक सम्यक्त्व-पराक्रम विषयक ७१ प्रश्नोत्तर के सूचक हैं।

विनय प्राप्त कर गुरु की आशातना नहीं करता गत-शोक।
नरक व तिर्यग् सुर-नर सम्बन्धी दुर्गति को देता रोक ॥२५॥

कीर्ति, भक्ति, बहुमान व गुण-प्रकाशन द्वारा वह सिरमोर।
सुर-नर संबंधी सद्गति से अपना नाता लेता जोड़ ॥२६॥

सिद्धि सुगति शोधन व विनयमूलक सब प्रशस्त कार्यों को नर।
करता, अन्य बहुत जीवों को विनय-मार्ग पर ले आता फिर ॥२७॥

आलोचना[1] स्वयं की करने से क्या फल पाता है सत्त्व।
इससे अनन्त भव-वर्धक फिर मोक्ष-मार्ग घातक जो तत्त्व ॥२८॥

दंभ निदान व मिथ्यादर्शन शल्यों को फेंकता निकाल।
और प्राप्त करता है वह ऋजु-भाव, यहां सब तज जंजाल ॥२९॥

सरल भाव को प्राप्त हुआ वह मनुज अमायी स्त्री व नपुंसक—
वेद कर्म का बन्ध न करता पूर्व-बद्ध क्षय करता साधक ॥३०॥

निज निन्दा[2] का क्या फल भगवन! इससे होता पश्चाताप।
उससे विराग प्राप्त, करण-गुणश्रेणी पाता अपने-आप ॥३१॥

और करण-गुणश्रेणी प्राप्त श्रमण करता फिर तीव्र प्रयास।
जिसके द्वारा वह मुनि फिर कर देता मोह कर्म का नाश ॥३२॥

गर्हा[7] से क्या फल मिलता? गर्हा से प्राप्त अनादर होता।
उससे वह फिर अप्रशस्त योगों से सत्वर निवृत्त होता ॥३३॥

फिर प्रशस्त योगों से संयुक्त होकर वह अनगार महा।
अनन्तघाती परिणतियों को कर देता है क्षीण वहाँ ॥३४॥

सामायिक[8] से हे भगवन्! यह जीव यहाँ क्या फल पाता?
सामायिक से वह सावद्य योग से उपरत हो जाता ॥३५॥

भगवन्! चतुर्विंशति-स्तव[9] से जीव यहाँ क्या फल पाता है?
चतुर्विंशति स्तव से वह दर्शन-विशुद्धि को अपनाता है ॥३६॥

गुरु-वन्दन[10] से भगवन्! जीव प्राप्त क्या करता सुगुण प्रवर?
गुरु-वन्दन से नीच-गोत्र कर्मों को क्षय करता सत्वर ॥३७॥

उच्च-गोत्र का बन्ध न करता फिर सौभाग्य अबाधित प्राप्त।
अप्रतिहत आज्ञा-फल, दक्षिण भाव उसे होता फिर प्राप्त ॥३८॥

प्रतिक्रमण[11] से भगवन् ! जीव प्राप्त क्या करता सुगुण महान ?
प्रतिक्रमण से व्रत के छिद्रों का रुन्धन करता धीमान ॥३६॥

व्रत-छिद्रों को ढँकने वाला, आश्रव-गण को देता रोक ।
चरित्र के धब्बों को शीघ्र मिटा देता है वह गत-शोक ॥४०॥

और आठ प्रवचनमाताओं में हो सावधान संचरता ।
सम्यक् संयम में तल्लीन व समाधिस्थ हो, विहरन करता ॥४१॥

कायोत्सर्ग[12] क्रिया से किस फल को पाता है जीव तपोधन !
इससे अतीत सांप्रत के अतिचारों का करता सुविशोधन ॥४२॥

नीचे रखने वाले भारवाह की ज्यों फिर हलका बनता ।
प्रशस्त ध्यान लीन हो क्रमशः सुखपूर्वक वह विहार करता ॥४३॥

प्रत्याख्यान-क्रिया[13] से भगवन् ! जीव प्राप्त फिर क्या करता है ?
प्रत्याख्यान-क्रिया से आश्रव द्वारों का रुन्धन करता है ॥४४॥

स्तवना-स्तुति-मंगल[14] से क्या फल प्राणी पाता है भगवन् !?
इससे दर्शन ज्ञान चरण की बोधि लाभ करता शुभ मन ॥४५॥

ऐसा बोधि-लाभ वाला वह मोक्ष प्राप्त करता है आखिर ।
वैमानिक सुर बनने लायक करता आराधना या कि फिर ॥४६॥

काल-प्रतिलेखना[15] जीव को क्या फल देती है भगवन् !
ज्ञानावरणीय कर्म को इससे करता है क्षीण श्रमण ॥४७॥

प्रायश्चित्त-क्रिया[16] से भगवन् ! प्राणी किस फल को पाता ?
शुद्धि पाप की करता इससे निरतिचार फिर बन जाता ॥४८॥

सम्यक् प्रायश्चित्त विधायक, दर्शन-ज्ञान-विशोधन करता ।
फिर चारित्र व उसके फल की आराधना सफल वह करता ॥४९॥

प्रभो ! क्षमा[17] करने से प्राणी किस फल को करता है प्राप्त ?
जीव क्षमा करने से झट प्रल्हाद-भाव को करता प्राप्त ॥५०॥

वर प्रल्हाद-भाव से प्राण-भूत सब जीव सत्व में अभिनव ।
मित्र-भाव होता फिर भाव-शुद्धि कर निर्भय बनता मानव ॥५१॥

हे भगवन्! स्वाध्याय-क्रिया[18] से जीव लाभ क्या करता प्राप्त ?
इससे ज्ञानावरणीय कर्म को कर देता है शीघ्र समाप्त ॥५२॥

पूज्य-वाचना[१९] से यह जीव प्राप्त क्या करता लाभ महा ?
कर्म-निर्जरा करता शास्त्र-वाचना से यह लाभ कहा ॥५३॥

श्रुत के वाचन से फिर श्रुत की आशातना नहीं वह करता।
अनाशातना-शील श्रमण फिर धर्म-तीर्थ अवलम्बन करता ॥५४॥

धर्म तीर्थ अवलम्बन करता हुआ, महान निर्जरा वाला—
होता है फिर महान पर्यवसान यहाँ वह करने वाला ॥५५॥

भन्ते! प्रतिप्रश्न[२०] करने से जीव प्राप्त क्या है करता ?
उससे सूत्र-अर्थ, फिर तदुभय जनित संशयों को हरता ॥५६॥

और यहाँ फिर करता कांक्षा-मोहनीय अघ-कर्म-विनाश।
प्रतिप्रश्न से क्रमशः हो जाता आत्मा का पूर्ण विकास ॥५७॥

परावर्तना[२१] से भगवन्! प्राणी किस फल को है पाता ?
इससे व्यंजन अथवा व्यंजन-लब्धि प्राप्त वह हो जाता ॥५८॥

अनुपेक्षा[२२] से क्या फल मिलता ? इससे आयुकर्म को तजकर।
सातों कर्म-प्रकृति के दृढ़ बन्धन को शिथिल बनाता है नर ॥५९॥

दीर्घकाल स्थिति वालों की फिर ह्रस्व काल स्थिति वह कर देता।
और तीव्र रस वालों को मंदानुभाव वाले कर देता ॥६०॥

बहुत प्रदेशी हों तो अल्प प्रदेशी उन्हें बना देता है।
आयुकर्म का बन्ध कदाचित् होता, न कदाचित् होता है ॥६१॥

बारम्बार असात वेदनीय का नहीं उपचय वह करता।
दीर्घ अनादि अनन्त चतुर्गति भव-वन झट उल्लंघन करता ॥६२॥

धर्मकथा[२३] से क्या फल ? भगवन्! इससे कर्म निर्जरा करता।
धर्मकथा से जिन-प्रवचन की उज्ज्वल प्रभावना वह करता ॥६३॥

जिन-प्रवचन की प्रभावना से फिर भविष्य में जीव यहाँ पर।
मंगलकारी कर्मों का अर्जन करता है अघ-मल धो कर ॥६४॥

श्रुताराधना[२४] से भगवन्! प्राणी किस फल को करता प्राप्त ?
श्रुताराधना से अज्ञान-विलय होता फिर दुःख समाप्त ॥६५॥

एक अग्र पर मन को स्थापित करने पर[२५] क्या मिलता ? प्रभुवर!
इससे वह फिर चपल चित्त का निरोध कर देता है सत्वर ॥६६॥

संयम[२६] से किस फल की भगवन ! होती है संप्राप्ति यहाँ ?
संयम से आश्रव का वह निरोध करता, यों स्पष्ट कहा ॥६७॥

भगवन् ! तप[२७] से किस फल को करता है जीव यहाँ संप्राप्त ?
तप से पूर्वाजित कर्मों को कर देता है शीघ्र समाप्त ॥६८॥

शुभ व्यवदान[२८] क्रिया से भगवन ! प्राणी क्या फल पाता है ?
इस व्यवदान क्रिया से वह अक्रियावान बन जाता है ॥६९॥

मनुज अक्रियावान सिद्ध फिर बुद्ध, मुक्त हो जाता है।
होता परिनिर्वाण अन्त सब दुःखों का कर पाता है ॥७०॥

सुख की स्पृहा निवारण करने पर[२९] क्या जीव प्राप्त करता ?
इससे विषयों के प्रति सद्य अनुत्सुक भाव प्राप्त करता ॥७१॥

जीव अनुत्सुक अनुकम्पा करने वाला होता उपशान्त।
शोक-मुक्त हो क्षय वरता चारित्र मोह को सहज प्रशान्त ॥७२॥

अप्रतिवद्धता[३०] से भन्ते ! किस फल को पाता जीव प्रवर ?
अप्रतिबद्धता से हो जाता वह असंग, प्राणो सत्वर ॥७३॥

इससे मनुज अकेला हो एकाग्र-चित्त वाला है बनता।
बाह्य संग तज निशि-दिन वह प्रतिबंध-रहित होकर संचरता ॥७४॥

भन्ते ! विविक्त-शयनासन-सेवन[३१] से जीव प्राप्त क्या करता ?
विविक्त-शयनासन-सेवन से वह चारित्र सुरक्षित रखता ॥७५॥

चरित्र-रक्षक, नीरसभुग्, दृढ़ चरित्रवान, विजन-रत, त्राता।
मोक्ष-भाव प्रतिपन्न अष्टविध कर्म ग्रन्थियाँ तोड़ गिराता ॥७६॥

विनिवर्तना[३२] मनुज को भगवन् ! क्या फल देती है वरतर ?
इससे पाप कर्म करने में जीव नहीं होता तत्पर ॥७७॥

फिर पूर्वाजित पाप कर्म को क्षय कर देता तदनन्तर।
गति चतुष्क भव-अटवी के उस पार चला जाता है नर ॥७८॥

क्या फल मिलता है संभोग-त्याग[३३] से प्राणी को ? गुरुदेव !
इससे मानव परावलम्बन को तज देता है स्वयमेव ॥७९॥

निरावलम्बी के प्रयत्न सब होते मोक्ष-सिद्धि के खातिर।
वह स्वलाभ में ही संतुष्ट बना रहता है श्रमण यहाँ फिर ॥८०॥

परलाभाऽऽस्वादन व कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना, आशा तजकर।
श्रमण दूसरी सुख-शय्या धारण कर विहार करता भू पर ।।८१।।

उपधि-त्याग[३४] से प्राणी क्या फल पाता है भगवन्! सुखकर?
इससे वह स्वाध्याय-ध्यान की क्षति से बच जाता है नर।।८२।।

उपधि-रहित मुनि अभिलाषा से विरहित होकर सुख पाता।
नहीं उपधि के अभाव में मानसिक दुःख को अपनाता ।।८३।।

भगवन् अशन-त्याग[३५] से क्या फल मिलता प्राणी को अनवद्य।
इससे जीवित रहने की लालसा-छेद देता है सद्य ।।८४।।

जीवित-आशा के प्रयोग से जब विमुक्त वह हो जाता है।
तब भोजन के बिना श्रमण, संक्लेश न किंचित् भी पाता है ।।८५।।

पूज्य! कषाय-त्याग[३६] से क्या फल? इससे वीतरागता मिलती।
वीतराग होने पर सुख-दुख में समता की बाड़ी खिलती ।।८६।।

योग-त्याग[३७] से क्या फल मिलता? इससे मनुज अयोगी बनता।
नये कर्म फिर नहीं बाँधता, पूर्व बद्ध कर्मों को धुनता ।।८७।।

पूर्ण शरीर-त्याग[३८] का क्या फल प्राणी को मिलता? गुरुदेव!
देह-त्याग से सिद्धातिशय गुणों को पा जाता स्वयमेव ।।८८।।

सिद्धातिशय-सुगुण-संप्राप्त जीव लोकाग्र पहुँच पाता।
लोक-शिखर पर पहुंच वहाँ फिर परम सुखी वह बन जाता ।।८९।।

सहाय-त्याग[३९] क्रिया का क्या फल? इससे मिल पाता एकत्व।
फिर एकत्वाऽऽलम्बन का करता अभ्यास हुआ वह सत्व ।।९०।।

शब्द कलह झंझट कषाय तू-तू से होता मुक्त ततः।।
संयम-संवर-बहुल व समाधिस्थ हो जाता श्रमण स्वतः ।।९१।।

भगवन्! भक्त-त्याग[४०] से किस गुण को यह जीव प्राप्त करता?
भक्त-त्याग से बहुत सैकड़ों जन्मों का रुन्धन करता ।।९२।।

हे भगवन्! सद्भाव-त्याग[४१] से प्राणी किस फल को पाता?
वह सद्भाव-त्याग से झट अनिवृत्ति करण को अपनाता ।।९३।।

मुनि अनिवृत्ति-करण-संप्राप्त, चार कर्मों का करता क्षय।
यथा कि वेदनीय आयुष्य व नाम गोत्र का पूर्ण विलय ।।९४।।

तदनन्तर वह सिद्ध-बुद्ध फिर मुक्त यहाँ होता अत्यन्त ।
परिनिर्वाण प्राप्त करता सब दुःखों का करता है अन्त ॥९५॥

प्रतिरूपता-क्रिया[४२] का क्या फल ? इससे हलके मन को पाता ।
लघुता से अप्रमत्त, प्रकट लिंग हो प्रशस्त लिंग अपनाता ॥९६॥

विशुद्ध दर्शनवान पराक्रमपूर्ण, समिति वाला होता है ।
प्राणभूत फिर जीव सत्त्व गण का विश्वस्त रूप होता है ॥९७॥

थोड़ी प्रतिलेखन वाला व जितेन्द्रिय, विपुल तपस्या वाला ।
होता है सर्वत्र समितियों का प्रयोग वह करने वाला ॥९८॥

वैयावृत्य-क्रिया[४३] से भगवन् ! प्राणी किस फल को पाता ?
इससे वर तीर्थंकर-नाम गोत्र का अर्जन हो जाता ॥९९॥

सब-गुण-संपन्नता[४४] जीव को क्या फल देती है ? गुरुदेव !
इससे जीव अपनुरावृत्ति कर लेता है स्वयमेव ॥१००॥

जीव अपुनरावृत्ति प्राप्त करनेवाला, शारीरिक सर्व—
और मानसिक दुःखों का भागी न कभी होता, गत-गर्व ॥१०१॥

वीतरागता[४५] का क्या फल ? इससे शिष्य ! स्नेह-अनुबन्ध ।
शीघ्र काट देता है प्राणी भीषण तृष्णा का भी फंद ॥१०२॥

तथा मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द रस रूप व गन्ध स्पर्श ।
इन सबसे होता विरक्त, प्राणी पा जाता है उत्कर्ष ॥१०३॥

भगवन्! क्षमा-भाव[४६] से जीव प्राप्त करता क्या लाभ विशाल ?
क्षमा-भाव से परीषहों पर विजय प्राप्त करता तत्काल ॥१०४॥

लोभ-मुक्ति[४७] का क्या फल ? इससे प्राप्त अकिंचनता को होता ।
अर्थ लोल मनुजों द्वारा अप्रार्थनीय फिर है वह होता ॥१०५॥

भगवन् ! प्राणी को आर्जव[४८] से फल क्या होता है संप्राप्त ?
आर्जव से काया भाषा व भाव की ऋजुता होती प्राप्त ॥१०६॥

और जीव वह आर्जव से अविसंवादनता को पाता ।
अविसंवादनता से प्राणी धर्माराधक हो जाता ॥१०७॥

मार्दवता[४९] से क्या सात्विक फल मिलता प्राणी को ? गुरुदेव !
मार्दवता से जीव अनुद्धत बन जाता है वह स्वयमेव ॥१०८॥

जीव अनुद्धत फिर मृदु मार्दव से होकर संपन्न महा।
मद के आठों स्थानों का कर देता शीघ्र विनाश यहाँ ॥१०९॥

भाव-सत्य[50] से क्या फल मिलता भगवन् ! प्राणी को अनवद्य ?
भाव-सत्य से भावों की संशुद्धि प्राप्त करता है सद्य ॥११०॥

भाव-शुद्धि-रत जीव जिनोक्त धर्म के आराधन में तत्पर—
होकर वह परलोक धर्म का आराधक बनता है सत्वर ॥१११॥

करण-सत्य[51] का क्या फल? इससे करण-शक्ति को वह पाता है।
करण-शक्ति वाला जैसा कहता है वैसा ही करता है ॥११२॥

योग-सत्य[52] से क्या फल प्राणी को मिलता भगवन् ! सुविशिष्ट ?
योग-सत्य से योगों की परिशुद्धि प्राप्त करता उत्कृष्ट ॥११३॥

मनो-गुप्ति[53] का क्या फल ? इससे पाता एकाग्रता यहाँ पर।
मनोगुप्त एकाग्रचित्त संयम का आराधक होता फिर ॥११४॥

वचन गुप्ति[54] से क्या फल मिलता ? इससे निर्विकार नर होता।
वचन-गुप्त अविकारी वह आध्यात्म योग साधनयुत होता ॥११५॥

काय गुप्ति[55] से क्या मिलता ? इससे संवर को अपनाता।
संवर द्वारा काय-गुप्त फिर पापाश्रव रुन्धन कर पाता ॥११६॥

मन की समाधारणा[56] से प्राणी को क्या फल मिलता ? देव !
मन की समाधारणा से एकाग्रचित्त बनता स्वयमेव ॥११७॥

तदनन्तर वह ज्ञान-पर्यवों को होता सम्प्राप्त यहाँ पर।
करता दर्शन-शुद्धि तथा मिथ्यात्व क्षीण करता है सत्वर ॥११८॥

जीव वचन की समाधारणा[57] से क्या प्राप्त यहां करता ?
वाणी-विषयभूत पर्यव-गण को विशुद्ध इससे करता ॥११९॥

ततः बोधि की सद्य सुलभता मनुज प्राप्त कर लेता है।
और बोधि की दुर्लभता को शीघ्र क्षीण कर लेता है ॥१२०॥

तन की समाधारणा[58] से प्राणी किस फल को पाता है ?
इससे वह चारित्र पर्यवों में विशुद्धता लाता है ॥१२१॥

फिर वह क्रमशः यथाख्यात-चारित्र-विशोधन करता सत्वर।
ततः केवली-सत्क चार कर्मों को क्षय कर देता मुनिवर ॥१२२॥

तदनंतर वह सिद्ध-बुद्ध-परिमुक्त यहाँ बनता है संत।
परिनिर्वाण प्राप्त होता है सब दुःखों का करता अन्त ॥१२३॥

पूज्य! ज्ञान की संपन्नता[59] जीव को क्या फल देती है?
वह सब भावों का रहस्य प्राणी को बतला देती है ॥१२४॥

जीव ज्ञान की संपन्नता प्राप्त कर पूर्ण विज्ञ होता।
फिर चतुरंत विश्व-कानन में अपने को न कभी खोता ॥१२५॥

स-सूत्र सूई गिरने पर भी ज्यों गुम होती कभी नहीं।
त्यों स-सूत्र प्राणी संसृति में होता कभी विनष्ट नहीं ॥१२६॥

ज्ञान विनय तप और चरण के योगों को फिर वह अपनाता।
स्वपर समय की व्याख्या, तुलना में प्रामाणिक माना जाता ॥१२७॥

दर्शन-संपन्नता[60] जीव को क्या फल देती है? भगवन्!
इससे वह भव-भ्रमण हेतु मिथ्यात्व-छेद देता शुभ मन ॥१२८॥

फिर उसकी बुझती न प्रकाश-शिखा, निज को संयोजित करता।
परम ज्ञान दर्शन से सम्यक् भावित करता हुआ विचरता ॥१२९॥

चरित्र-संपन्नता[61] जीव को क्या फल देती है? भगवन्!
इससे वह शैलेशी दशा प्राप्त कर लेता शीघ्र श्रमण ॥१३०॥

ततः केवली-सत्क चार कर्मों को करता क्षीण तुरन्त।
सिद्ध बुद्ध निर्वाण मुक्त हो सब दुःखों का करता अन्त ॥१३१॥

भगवन्! श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह[62] से क्या जीव प्राप्त है करता?
इससे प्रिय-अप्रिय शब्दों में राग-द्वेष का निग्रह करता ॥१३२॥

शब्द-जन्य वह राग-द्वेषोत्पन्न कर्म फिर नहीं बाँधता।
पूर्व-बद्ध कर्मों को करता क्षीण, स्वयं को सतत साधता ॥१३३॥

भगवन्! लोचन-इन्द्रिय[63] के निग्रह से जीव प्राप्त क्या करता?
इससे प्रिय-अप्रिय रूपों से राग-द्वेष का निग्रह करता ॥१३४॥

रूप-जन्य वह राग-द्वेषोत्पन्न कर्म फिर नहीं बाँधता।
पूर्व-बद्ध कर्मों को करता क्षीण, स्वयं को सतत साधता ॥१३५॥

भगवन्! घ्राणेन्द्रिय[64] के निग्रह से फिर जीव प्राप्त क्या करता?
इससे प्रिय-अप्रिय गंधों में राग-द्वेष का निग्रह करता ॥१३६॥

गंध-जन्य वह राग-द्वेषोत्पन्न कर्म फिर नहीं बाँधता।
पूर्व-बद्ध कर्मों को करता क्षीण, स्वयं को सतत साधता ।।१३७।।

भगवन् ! जिह्वेन्द्रिय[६५] के निग्रह से फिर जीव प्राप्त क्या करता ?
इससे प्रिय-अप्रिय रस में वह राग-द्वेष का निग्रह करता ।।१३८।।

रस-संबंधी राग-द्वेषोत्पन्न कर्म फिर नहीं बाँधता।
पूर्व-बद्ध कर्मों को करता क्षीण, स्वयं को सतत साधता ।।१३९।।

भगवन् ! स्पर्शेन्द्रिय[६६] का निग्रह से फिर जीव प्राप्त क्या करता ?
इससे प्रिय-अप्रिय स्पर्शों में राग-द्वेष का निग्रह करता ।।१४०।।

स्पर्श-जन्य वह राग-द्वेषोत्पन्न कर्म वह नहीं बांधता।
पूर्व-बद्ध कर्मों को करता क्षीण, स्वयं को सतत साधता ।।१४१।।

क्रोध-विजय[६७] से क्या फल मिलता ? इससे क्षमा धर्म को धरता।
क्रोध वेदनीय कर्म को न बाँधता पूर्व-बद्ध अघ हरता ।।१४२

मान-विजय[६८] से क्या फल मिलता ? इससे मृदुता को स्वीकरता।
मान वेदनीय कर्म को न बाँधता, पूर्व-बद्ध अघ हरता ।।१४३।।

कपट-विजय[६९] से क्या फल मिलता ? इससे ऋजुता को स्वीकरता।
कपट वेदनीय कर्म को न बाँधता, पूर्व-बद्ध अघ को हरता ।।१४४।।

लोभ-विजय[७०] से क्या फल मिलता ? इससे संतोषी वह बनता।
लोभ वेदनीय कर्म को न बाँधता, पूर्व-बद्ध अघ को धुनता ।।१४५।।

प्रेम-दोष-मिथ्यादर्शन-जय[७१] से भगवन् ! प्राणी क्या पाता ?
इससे ज्ञान चरण दर्शन आराधन में तत्पर हो जाता ।।१४६।।

कर्माष्टक में कर्म-ग्रन्थि खोलने हेतु लाता तत्परता।
क्रमशः अट्ठाईस प्रकार मोह का प्रथमतया क्षय करता ।।१४७।।

ज्ञानावरण व अन्तराय की पाँच-पाँच, दर्शन की नौ है।
इन तीनों कर्मों की सर्व प्रकृतियाँ युगपत् करता क्षय है ।।१४८।।

ततः अनन्त अनुत्तर निरावरण वितिमिर परिपूर्ण महान।
विशुद्ध लोकालोक-प्रकाशक पाता केवलदर्शन ज्ञान ।।१४९।।

जब तक श्रमण सयोगी होता तब तक ईर्यां-पथिक कर्म का।
होता सुख स्पर्शवाला दो समय स्थितिक वह बंध कर्म का ।।१५०।।

यथा कि प्रथम समय में बन्ध, दूसरे में होता वेदन।
समय तीसरे में उसका हो जाता समूल से छेदन ॥१५१॥

बद्ध व स्पृष्ट उदीरित वेदित होकर क्षय हो जाता है।
तदनन्तर वह जीव अन्त में अकर्म भी हो जाता है ॥१५२॥

फिर अवशिष्ट आयु पालन कर अन्तर्मुहूर्त-मित में रह जाता।
तब वह योगों का निरोध करने में झट उद्यत हो जाता ॥१५३॥

सूक्ष्म क्रियातिपाति नामक फिर शुक्ल ध्यान में वह रत होकर।
पहले मन फिर वचन योग को रोक, व प्राणापान रोक फिर॥१५४॥

पांच ह्रस्व अक्षर उच्चारण जितने स्वल्प समय में मुनिवर!
फिर समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति नाम का ध्यान वहाँ धर॥१५५॥

वेदनीय आयुष्य नाम शुभ, गोत्र कर्म इन चारों को फिर।
एक साथ क्षय करके आत्मा अजर-अमर बन जाता आखिर ॥१५६॥

फिर औदारिक और कार्मण तन को पूर्णतया वह तजकर।
ऋजु श्रेणी को प्राप्त हुआ फिर ऊर्ध्व दिशा में गति करता नर॥१५७॥

फिर अविग्रह से एक समय की गति से जाता सिद्ध-स्थल पर।
साकारोपयोग युत सिद्ध-बुद्ध होता सब दुःख अन्त कर ॥१५८॥

महावीर भगवान् श्रमण से यह सम्यक्त्व-पराक्रम का वर।
अर्थ प्ररूपित प्रज्ञापित दर्शित उपदर्शित हुआ यहाँ पर ॥१५९॥

तीसवाँ अध्ययन

तप-मार्ग

राग-द्वेष-समर्जित, पाप कर्म को जिस प्रकार तप से।
भिक्षु क्षीण करता है, उसको सुन एकाग्रचित्त मुझ से ॥१॥

हिंसा मृषा अदत्त मिथुन फिर परिग्रह से विरत प्रवर।
निशि-भोजन से जो उपरत है अनाश्रवी होता वह नर ॥२॥

पंच समित, अकषाय, त्रिगुप्त, जितेन्द्रिय, गर्वहीन, गुणवान।
और शल्य से रहित जीव कहलाता अनाश्रवी मतिमान ॥३॥

उक्त गुणों के विरुद्ध राग-द्वेषार्जित जो अघ होता है।
हो एकाग्रचित्त सुन, उसे भिक्षु जिस प्रकार से खोता है ॥४॥

सलिलागम-पथ निरोध से ज्यों जल को उलीचने पर आखिर।
सूर्य-ताप से महा तालाब सूख जाता है क्रमशः त्यों फिर ॥५॥

संयति के सब पाप-कर्म आने के पथ निरोध होने पर।
कोटि भवों के संचित कर्म तपस्या से कट जाते सत्वर ॥६॥

बाह्याभ्यन्तर विभेद से तप दो प्रकार का कहा सुजान।
छह प्रकार है बाह्य व आभ्यन्तर भी छह प्रकार से जान ॥७॥

अनशन ऊनोदरिका भिक्षाचर्या रस-परित्याग महान।
काय-क्लेश तथा फिर संलीनता बाह्य तप है, पहचान ॥८॥

अनशन के दो भेद प्रथम इत्वरिक अपर फिर मरण काल है।
सावकांक्ष इत्वरिक दूसरा निरवकांक्ष अनशन विशाल है ॥९॥

छह प्रकार इत्वरिक तपस्या वह संक्षिप्त तथा प्रकथित है।
श्रेणि प्रतर, घन, वर्ग तपस्या का यह चौथा भेद प्रथित है ॥१०॥

पंचम वर्ग वर्ग-तप है फिर प्रकीर्ण छट्ठा भेद महान।
मन-इच्छित चित्रित फल देने वाला तप इत्वरिक प्रधान ॥११॥

मरण काल अनशन के फिर होते हैं उभय भेद मतिमान।
कायिक चेष्टा से सविचार तथा अविचार भेद पहचान ॥१२॥

अथवा सपरिकर्म फिर अपरिकर्म निर्हारी व अनिर्हारी।
दो-दो भेद कहे, इन सब में अशन-त्याग तो रहता जारी ॥१३॥

ऊनोदरिका पाँच प्रकार कही संक्षिप्ततया पहचान।
द्रव्य क्षेत्र फिर काल भाव पर्याय भेद ये पांच प्रधान ॥१४॥

जिसकी जितनी है खुराक उससे कम से कम एक सिक्त भी।
कम खाता वह द्रव्योनोदर, अधिकाधिक फिर एक कवल भी ॥१५॥

ग्राम, राजधानी व निगम, आकर, नगर, पल्ली पहचान।
खेडा, कर्वट, मंडप, पत्तन व द्रोणमुख, संबाध सुजान ॥१६॥

आश्रम-पद, विहार फिर सन्निवेश व समाज, घोष में भी।
स्थली व सेना-स्कंधावार सार्थ, संवर्त, कोट में भी ॥१७॥

पाड़ा, गलियाँ, घर या इस प्रकार के अपर क्षेत्र में कल्प।
निरधारित क्षेत्रों में जाना क्षैत्रिक ऊनोदरी-विकल्प ॥१८॥

अथवा पेटा व अर्धपेटा गोमूत्रिका पतंग-वीथिका।
शम्बूकावर्ता व आयतंगत्वा-प्रत्यागता षष्ठिका ॥१९॥

दिन के चार प्रहर में से जिस किसी काल का किया अभिग्रह।
उसमें भिक्षाकारक के, तप ऊनोदरी काल से है वह ॥२०॥

अथवा फिर कुछ न्यून तृतीय प्रहर में भिक्षा हित जो जाता।
उसे काल से ऊनोदरिका तप होता है सौख्य प्रदाता ॥२१॥

सालंकृत अनलंकृत नारी नर जो अमुक अवस्था वाला।
अमुक वस्त्रधारी फिर अमुक अशन मुझको हो देने वाला ॥२२॥

अमुक विशेष वर्ण या भाव युक्त से भिक्षा लेने का प्रण।
करता उसे भाव ऊनोदरिका तप होता शिष्य ! विचक्षण ॥२३॥

द्रव्य क्षेत्र फिर काल भाव में जो पर्याय कहे उन सबसे।
अवमौदर्य विधायक भिक्षु कहाता पर्यवचरक सब से ॥२४॥

गोचराग्र है आठ प्रकार व सात प्रकार एषणा चर्या।
और अन्य हैं अभिग्रह वे कहलाते सब भिक्षाचर्या ॥२५॥

दूध दही घृत आदि तथा फिर प्रणीत अशन-पान पहचान।
और रसों के वर्जन को रस-वर्जन तप है कहा सुजान ॥२६॥

उत्कट वीरासनादि का अभ्यास किया जो जाता है।
आत्मा के हित सुखकर, काय-क्लेश वही कहलाता है ।।२७।।

अनापात एकान्त तथा नारी-पशु-वर्जित शयनासन का।
सेवन करना विविक्त शयनासन तप कहलाता मुनिजन का ।।२८।।

कहा गया यह यहाँ बाह्य तप अति संक्षेपतया पहचान।
अब आभ्यन्तर तप को क्रमशः यहाँ कहूंगा मैं मतिमान ।।२९।।

प्रायश्चित्त, विनय फिर वैयावृत्य और स्वाध्याय सार है।
तथा ध्यान व्युत्सर्ग छहों ये आभ्यन्तर तप के प्रकार हैं ।।३०।।

आलोचना योग्य आदिक जो दशविध प्रायश्चित्त रहा है।
सम्यक् जो पालन करता उसको तप प्रायश्चित्त कहा है ।।३१।।

अभ्युत्थान व अंजलिकरण तथा गुरुजनों को देना आसन।
गुरु की सेवा-भक्ति हृदय से करना विनय कहाता पावन ।।३२।।

आचार्यादि सम्बन्धी दशविध वैयावृत्य कहा उनका फिर।
यथाशक्ति आसेवन, वैयावृत्य कहा जाता है सुरुचिर ।।३३।।

प्रथम वाचना और पृच्छना परिवर्तना श्रमण ! अनपाय।
अनुप्रेक्षा फिर धर्मकथा यों पाँच प्रकार कहा स्वाध्याय ।।३४।।

आर्त्त रौद्र को तज सुसमाहित धर्म व शुक्लध्यान-अभ्यास।
करे उसे बुधजन कहते हैं ध्यान नाम का तपवर खास ।।३५।।

सोने, उठने और-और बैठने में जो व्यापृत भिक्षु न होता।
छट्ठा तप व्युत्सर्ग कहा वह तन की चंचलता को खोता ।।३६।।

उभय प्रकार तपों का सम्यग् जो करता आचरण श्रमण।
सब संसार-विमुक्त शीघ्र हो जाता है वह पंडित जन ।।३७।।

इकतीसवाँ अध्ययन

चरण-विधि

यहाँ कहूँगा जीवों को सुख देने वाली चरण सुविधि को।
जिसे ग्रहण कर बहुत जीव तर गए शीघ्र संसार-जलधि को ॥१॥

एक स्थान से विरत बने फिर एक स्थान में करे प्रवृत्ति।
करे निवृत्ति असंयम से, फिर संयम में नित करे प्रवृत्ति ॥२॥

पाप-प्रवर्तक राग-द्वेष उभय इन दो पापों को संत।
सदा रोकता है वह संसृति में न कभी रहता गुणवंत ॥३॥

तीनों दंड, गर्व तीनों फिर तीनों शल्यों को जो संत।
सदा छोड़ता है वह मंडल में न कभी रहता गुणवंत ॥४॥

देव मनुज तिर्यञ्च सम्बन्धी सब उपसर्गों को जो संत।
सदा सहन करता वह संसृति में न कभी रहता गुणवंत ॥५॥

विकथा कषाय संज्ञा तथा उभय दुर्ध्यानों को जो संत।
सदा छोड़ता है वह संसृति में न कभी रहता मतिमंत ॥६॥

इन्द्रिय विषयों, व्रतों, समितियों और क्रियाओं में जो संत।
सदा यत्न करता वह संसृति में न कभी रहता मतिमंत ॥७॥

छह लेश्या, छह काय, अशन के छहों कारणों में जो संत।
सदा यत्न करता वह संसृति में न कभी रहता गुणवंत ॥८॥

अशन ग्रहण की प्रतिमाओं में भय-स्थान सातों में संत।
सदा यत्न करता वह संसृति में न कभी रहता मतिमंत ॥९॥

मदों, ब्रह्म-गुप्तियों तथा फिर दश विध भिक्षु धर्म में संत।
सदा यत्न करता वह संसृति में न कभी रहता मतिमंत ॥१०॥

श्रावक प्रतिमाओं में तथा भिक्षु प्रतिमाओं में जो संत।
सदा यत्न करता वह संसृति में न कभी रहता गुणवंत ॥११॥

क्रिया, भूतग्रामों में परमाधार्मिक देवों में जो संत।
सदा यत्न करता वह संसृति में न कभी रहता गुणवंत ॥१२॥

गाथा षोड़श अध्ययन व असंयम स्थानों में जो संत।
सदा यत्न करता वह संसृतियों में न कभी रहता मतिमंत ॥१३॥

ब्रह्मचर्य पद, ज्ञाताध्ययन व असमाधि स्थानों में संत।
सदा यत्न करता वह संसृति में न कभी रहता मतिमंत ॥१४॥

जो इक्कीस सबल दोषों, बाईस परिषहों में नित संत।
यत्नशील रहता, वह संसृति में न कभी रहता गुणवंत ॥१५॥

सूत्रकृताङ्ग त्रयोविंशति में रूपाधिक देवों में संत।
सदा यत्न करता वह संसृति में न कभी रहता गुणवंत ॥१६॥

जो कि पचीस भावनाओं में दशादि उद्देशों में संत।
सदा यत्न करता वह संसृति में न कभी रहता गुणवंत ॥१७॥

जो अनगार-गुणों में फिर आचार-प्रकल्पों में जो संत।
सदा यत्न करता वह संसृति में न कभी रहता मतिमंत ॥१८॥

पापश्रुत-प्रसंगों में फिर मोह स्थानों में जो संत।
सदा यत्न करता वह संसृति में न कभी रहता मतिमंत ॥१९॥

सिद्ध-गुणों योगों में तेतीसाशातन-गण में जो संत।
सदा यत्न करता वह संसृति में न कभी रहता मतिमंत ॥२०॥

इन उपरोक्त सभी स्थानों में सदा यत्न करता जो संत।
वह पंडित झट सब संसार-मुक्त हो जाता है गुणवंत ॥२१॥

बत्तीसवाँ अध्ययन

प्रमाद स्थान

जो अनादिकालीन प्रवाहित मूल सहित सब दुःख अन्तकर।
वह उपाय एकाग्र्य श्रेयकर मैं कहता हूं सुनो ध्यान धर ॥१॥

राग, द्वेष तथा अज्ञान व मोह नाश से प्राणी पाता।
पूर्ण ज्ञान का प्रकाश फिर एकान्त सौख्यप्रद शिव अपनाता ॥२॥

अज्ञ जनों का संग छोड़ गुरु वृद्ध जनों की सेवा अथ है।
विजनवास स्वाध्याय धैर्य फिर सूत्र-अर्थ-चिन्तन शिव पथ है ॥३॥

समाधि-कामी श्रमण तपस्वी एषणीय मित भोजन चाहे।
फिर निपुणार्थ बुद्धि वाला साथी भी विजन निकेतन चाहे ॥४॥

समगुण अथवा अधिक गुणी मुनि निपुण सहायक मिले न जब वह।
काम-विरत, सब पापरहित होकर एकाकी विचरे तब वह ॥५॥

अंडे से बगली पैदा होती, बगली से अंडा जैसे।
स्थान मोह का तृष्णा है, तृष्णा का स्थान मोह है वैसे ॥६॥

राग-द्वेष उभय हैं कर्म-बीज, फिर मोहज कर्म कहा है।
जन्म-मरण का मूल कर्म है जन्म-मरण मय दुःख रहा है ॥७॥

विमोह नर के दुःख न होता, विगत-तृष्ण के मोह न होता।
निर्लोभी के तृष्णा नहीं, अकिंचन के फिर लोभ न होता ॥८॥

राग-द्वेष-मोह को जड़ से उन्मूलन का इच्छुक जो नर।
जिन-जिन सदुपायों को धारे, उन्हें कहूंगा क्रमशः सत्वर ॥९॥

अधिक रसों का सेवन न करे धातु-दीप्तिकर रस प्रायः सभी।
स्वादु सुफल तरु को ज्यों विहग कष्ट देते त्यों दृप्त काम भी ॥१०॥

बहु इंधन वाले वन में ससमीर दवाग्नि नहीं बुझती ज्यों।
बहुरस-भोजी ब्रह्मव्रती की इन्द्रियाग्नि जलती रहती त्यों ॥११॥

विविक्त शय्यासन-यंत्रित, अवमाशन, दमितेन्द्रिय के मन को।
पकड़ न सकता राग-शत्रु, वर औषधि-जित गद ज्यों दृढ़ तन को ॥१२॥

अप्रशस्त है चूहों का रहना विड़ाल-वस्ती के पास।
स्त्री-आलय के निकट ब्रह्मचारी का त्यों अक्षम्य निवास ॥१३॥

स्त्री-लावण्य, रूप, आलाप, विलास, हास्य, इंगित, प्रेक्षण।
इन्हें चित्त में रमा, देखने का संकल्प न करे श्रमण ॥१४॥

स्त्री-अवलोकन, प्रार्थन, चिन्तन, कीर्तन नहिं करना ही हितकर।
धर्म-ध्यान के योग्य, ब्रह्मव्रत-रत मुनि का यह पथ श्रेयस्कर ॥१५॥

जिन त्रिगुप्त मुनियों को सज्जित सुर-वधूएं न चलित कर सकतीं।
फिर भी परम प्रशस्त व हितकर उनके लिए विजन में वसती ॥१६॥

मोक्षाकांक्षी, धर्मस्थित, संसार-भीरु नर के जीवन में।
अज्ञ-मनोहारी नारी दुस्तर कोई वस्तु न जग में ॥१७॥

इन संगों को तरने पर सब शेष संग है सुतर यथा।
महा सिन्धु तरने पर गंगा नदी तैरना सुगम तथा ॥१८॥

देव सहित सब जग में कायिक व मानसिक दुख है अत्यन्त।
वह सब कामजन्य है, वीतराग पा जाता उसका अन्त ॥१९॥

खाते समय वर्ण रस से ज्यों फल किंपाक मनोरम होते।
जीवनान्त करते परिणति में, कामभोग भी ऐसे होते ॥२०॥

मनोज्ञ या अमनोज्ञ इन्द्रियों के विषयों में राग व रोष।
न करे समाधि-इच्छुक श्रमण तपस्वी सतत रहे निर्दोष ॥२१॥

रूप आंख का विषय कहाता, राग हेतु जो प्रिय बन जाता।
द्वेष हेतु अप्रिय बनता, समता से वीतराग कहलाता ॥२२॥

चक्षु रूप का ग्राहक है फिर रूप चक्षु का ग्राह्य कहाता।
राग हेतु वह प्रिय हो जाता, द्वेष हेतु अप्रिय बन जाता ॥२३॥

ज्यों आलोक-लोल रागातुर शलभ मृत्यु को है अपनाता।
त्यों प्रिय रूप-तीव्र लोलुप नर आकाल ही में विनाश पाता ॥२४॥

तीव्र द्वेष करता अप्रिय में, दुःख उसी क्षण वह पाता नित।
निज दुर्दान्त दोष से दुखी, न इसमें दोष रूप का किंचित् ॥२५॥

प्रिय सुरूप में प्रबल रक्त, अप्रिय में करता द्वेष स्वतः।
वह अज्ञानी दुख पाता, होता न विरत मुनि लिप्त अतः ॥२६॥

रूप-पिपासानुग, गुरु-क्लिष्ट, स्वार्थरत, अज्ञ, विविध त्रस स्थावर।
जीवों का वध करता, परितापित पीड़ित भी उन्हें अधिकतर ॥२७॥

रूप-गृद्ध, उत्पादन, रक्षण, संनियोग, व्यय, वियोग-लिप्त ।
रहता उसे कहाँ सुख, भोग समय भी रहता जबकि अतृप्त ॥२८॥

रूप-अतृप्त, सुरूप ग्रहण में रहता गृद्ध, न होता तुष्ट ।
अतुष्टि-दोष दुखी पर द्रव्य चुराता है, वह लोभाविष्ट ॥२९॥

रूप ग्रहण में अतृप्त तृष्णाऽभिभूत हो, वह चोरी करता ।
लोभ दोष से झूठ-कपट बढ़ता, फिर दुख से छूट न सकता ॥३०॥

झूठ बोलते समय व पहले पीछे होता दुखी दुरन्त ।
त्यों चोरी-रत रूप-अतृप्त, अनाश्रित, पाता दुख अत्यन्त ॥३१॥

रूप-गृद्ध को कहीं कदाचित् किंचित् भी क्या सुख हो पाता ?
प्राप्ति समय दुख, फिर उपभोग समय दुख अतृप्ति का हो जाता ॥३२॥

अप्रिय रूप द्वषरत त्यों दुख-परम्परा को है अपनाता ।
दुष्ट चित्त से कर्म बाँध, परिणाम काल में वह दुख पाता ॥३३॥

रूप-विरत नर अशोक हो, दुख-परम्परा से लिप्त न बनता ।
जल में ज्यों कमलिनी पत्र, त्यों वह अलिप्त बन जग में रहता ॥३४॥

शब्द श्रोत्र का विषय कहाता, राग हेतु जो प्रिय बन जाता ।
द्वेष हेतु अप्रिय होता, समता से वीतराग कहलाता ॥३५॥

श्रोत्र शब्द का ग्राहक है फिर शब्द श्रोत्र का ग्राह्य कहाता ।
राग हेतु वह प्रिय कहलाता, द्वेष हेतु अप्रिय बन जाता ॥३६॥

शब्द-लुब्ध रागातुर मुग्ध अतृप्त हिरण ज्यों मारा जाता ।
त्यों ही तीव्र शब्द-लोलुप नर अकाल में ही विनाश पाता ॥३७॥

तीव्र द्वेष करता अप्रिय में, दुःख उसी क्षण वह पाता नित ।
निज दुर्दान्त दोष से दुखी, न इसमें शब्द दोष है किंचित् ॥३८॥

रुचिर शब्द में तीव्र रक्त, अप्रिय में करता द्वेष स्वतः ।
वह अज्ञानी दुख पाता, होता न विरत मुनि लिप्त अतः ॥३९॥

रूप-पिपासाऽनुग, गुरु-क्लिष्ट, स्वार्थरत, अज्ञ विविध त्रस स्थावर ।
जीवों का वध करता, परितापित पीड़ित भी, उन्हें अधिकतर ॥४०॥

शब्द-गृद्ध, उत्पादन, रक्षण, संनियोग, व्यय, वियोग-लिप्त।
रहता, उसे कहाँ सुख भोग समय भी रहता जबकि अतृप्त ।।४१।।

शब्द-अतृप्त, सुशब्द ग्रहण में रहता गृद्ध, न होता तुष्ट।
अतुष्टि दोष दुखो, पर वस्तु चुराता है वह लोभाविष्ट ।।४२।।

शब्द ग्रहण में अतृप्त तृष्णाभिभूत हो वह चोरी करता।
लोभ दोष से झूठ-कपट बढ़ता, फिर दुख से छूट न सकता ।।४३।।

झूठ बोलते समय व पहले पाछे होता दुखी दुरन्त।
त्यों चोरी-रत शब्द अतृप्त अनाश्रित, पाता दुख अत्यन्त ।।४४।।

शब्द-गृद्ध को कहीं कदाचित् किंचित् भी क्या सुख हो पाता ?
प्राप्ति समय दुख, फिर परिभोग समय अतृप्ति का दुख हो जाता ।।४५।।

अप्रिय शब्द द्वेषरत त्यों दुख-परम्परा को है अपनाता।
दुष्ट चित्त से कर्म बाँध, परिणाम समय में वह दुख पाता ।।४६।।

शब्द-विरत नर अशोक हो दुख-परम्परा से लिप्त न बनता।
जल में ज्यों कमलिनी पत्र, त्यों बन अलिप्त वह जग में रहता ।।४७।।

गंध घ्राण का विषय कहाता, राग हेतु वह प्रिय बन जाता।
द्वेष हेतु अप्रिय बनता, समता से वीतराग कहलाता ।।४८।।

घ्राण गंध का ग्राहक है फिर गंध घ्राण का ग्राह्य कहाता।
राग हेतु वह प्रिय कहलाता, द्वेष हेतु अप्रिय बन जाता ।।४९।।

औषधि-गंध-गृद्ध रागातुर अहि, बिल-बाहर मारा जाता।
त्यों ही तीव्र गंधलोलुप नर अकाल में ही विनाश पाता ।।५०।।

तीव्र द्वेष करता अप्रिय में, दुःख उसी क्षण पाता नित।
निज दुर्दान्त दोष से दुखी न इसमें गंध-दोष है किंचित् ।।५१।।

रुचिर गंध में तीव्र रक्त, अप्रिय में करता द्वेष स्वतः।
वह अज्ञानी दुख पाता, होता न विरत मुनि लिप्त अतः ।।५२।।

गंध-पिपासानुग गुरु-क्लिष्ट स्वार्थवश अज्ञ विविध त्रस स्थावर।
जीवों का वध करता, परितापित पीड़ित भी, उन्हें अधिकतर ।।५३।।

गंध-गृद्ध उत्पादन, रक्षण, संनियोग, व्यय, वियोग-लिप्त—
रहता, उसे कहाँ सुख भोग समय भी रहता जबकि अतृप्त ।।५४।।

गंध-अतृप्त, सुगंध ग्रहण में रहता गृद्ध न होता तुष्ट ।
अतुष्टि-दोष दुखी पर वस्तु चुराता है वह लोभाविष्ट ।।५५।।

गंध ग्रहण में अतृप्त, तृष्णाऽभिभूत हो वह चोरी करता ।
लोभ दोष से झूठ-कपट बढ़ता, फिर दुख से छूट न सकता ।।५६।।

झूठ बोलते समय व पहले पीछे होता दुखी दुरन्त ।
त्यों चोरी-रत, गंध-अतृप्त, अनाश्रित, पाता दुख अत्यन्त ।।५७।।

गंध-गृद्ध को कहीं कदाचित् किंचित् भी क्या सुख हो पाता ?
प्राप्ति समय दुख फिर परिभोग समय अतृप्ति का दुख हो जाता ।।५८।।

अप्रिय गंध-द्वेष रत भी दुख-परम्परा को है अपनाता ।
दुष्ट चित्त से कर्म बांध, परिणाम काल में वह दुख पाता ।।५९।।

गंध-विरत नर अशोक हो, दुख-परम्परा से लिप्त न बनता ।
जल में ज्यों कमलिनी-पत्र, त्यों बन अलिप्त वह जग में रहता ।।६०।।

रस रसना का विषय कहाता, राग हेतु वह प्रिय बन जाता ।
द्वेष हेतु अप्रिय बनता, समता से वीतराग कहलाता ।।६१।।

रसना रस की ग्राहक है, फिर रस रसना का ग्राह्य कहाता ।
राग हेतु वह प्रिय कहलाता, द्वेष हेतु अप्रिय बन जाता ।।६२।।

आमिष-भोग-गृद्ध रागातुर मत्स्य बड़िश से बींधा जाता ।
तीव्र रसों में गृद्ध मनुज त्यों अकाल में ही विनाश पाता ।।६३।।

तीव्र द्वेष करता अप्रिय में, दुःख उसी क्षण वह पाता नित ।
निज दुर्दान्त दोष से दुःखित, इसमें रस का दोष न किंचित् ।।६४।।

मनोज्ञ रस में प्रबल रक्त, अप्रिय में करता द्वेष स्वतः ।
वह अज्ञानी दुख पाता, होता न विरत मुनि लिप्त अतः ।।६५।।

रस-आशानुग, नर गुरु-क्लिष्ट स्वार्थवश अज्ञ विविध त्रस स्थावर ।
जीवों का वध करता परितापित पीड़ित भी उन्हें अधिकतर ।।६६।।

रसलोलुप उत्पादन, रक्षण, संनियोग, व्यय, वियोग-लिप्त ।
रहता उसे कहाँ सुख, भोग समय भी रहता जबकि अतृप्त ।।६७।।

रस-अतृप्त नर उसे ग्रहण में रहता लिप्त, न होता तुष्ट ।
अतुष्टि दोष दुखी, पर वस्तु चुरा लेता वह लोभाविष्ट ।।६८।।

रस ग्रहण में अतृप्त, तृष्णाभिभूत हो वह चोरी करता।
लोभ दोष से झूठ-कपट बढ़ता फिर दुख से छूट न सकता ॥६९॥

झूठ बोलते समय व पहले पीछे होता दुखी दुरन्त।
रस-अतृप्त त्यों चोरी-रत, होता असहाय दुखी अत्यन्त ॥७०॥

रसासक्त को कहीं कदाचित् किंचित् भी क्या सुख हो पाता ?
प्राप्ति काल में दुख, परिभोग समय अतृप्ति का दुख हो जाता ॥७१॥

अप्रिय रस में द्वेष-रक्त दुख-परम्परा को है अपनाता।
दुष्ट चित्त से कर्म बाँध, परिणाम काल में वह दुख पाता ॥७२॥

रस-विरक्त नर अशोक बन दुख परम्परा से लिप्त न बनता।
जल में ज्यों कमलिनी पत्र, त्यों बन अलिप्त वह जग में रहता ॥७३॥

स्पर्श काय का विषय कहाता, राग हेतु वह प्रिय बन जाता।
द्वेष हेतु अप्रिय बनता, समता से वीतराग कहलाता ॥७४॥

काय स्पर्श का ग्राहक है फिर स्पर्श काय का ग्राह्य कहाता।
राग हेतु वह प्रिय कहलाता, द्वेष हेतु अप्रिय बन जाता ॥७५॥

शीत जलावसन्न रागातुर ग्राह-ग्रहीत महिष हो जाता।
त्यों ही तीव्र स्पर्श आसक्त मनुज अकाल में विनाश पाता ॥७६॥

तीव्र द्वेष करता अप्रिय में दुःख उसी क्षण वह पाता नित।
निज दुर्दान्त दोष से दुखी, न इसमें स्पर्श दोष है किंचित् ॥७७॥

रुचिर स्पर्श में तीव्र राग, अप्रिय में करता द्वेष स्वतः।
वह अज्ञानी दुख पाता, होता न विरत मुनि लिप्त अतः ॥७८॥

स्पर्श-पिपासानुग गुरु-क्लिष्ट स्वार्थवश अज्ञ विविध त्रस स्थावर।
जीवों का वध करता, परितापित पीड़ित भी, उन्हें अधिकतर ॥७९॥

स्पर्श-गृद्ध उत्पादन, रक्षण, संनियोग, व्यय, वियोग-लिप्त।
रहता उसे कहाँ सुख, भोग समय भी रहता जबकि अतृप्त ॥८०॥

स्पर्श-अतृप्त सुस्पर्श ग्रहण में रहता लिप्त, न होता तुष्ट।
अतुष्टि दोष दुखी पर द्रव्य चुरा लेता वह लोभाविष्ट ॥८१॥

स्पर्श ग्रहण में अतृप्त तृष्णाऽभिभूत हो चोरी वह करता।
लोभ दोष से झूठ-कपट बढ़ता, फिर दुख से छूट न सकता ॥८२॥

झूठ बोलते समय व पहले पीछे होता दुखी दुरन्त।
त्यों चोरी-रत स्पर्श-अतृप्त अनाश्रित, पाता दुख अत्यन्त ॥८३॥

स्पर्श-गृद्ध को कहीं कदाचित् किंचित् भी क्या सुख मिल पाता ?
प्राप्ति काल में दुख फिर भोग समय अतृप्ति का दुख हो जाता ॥८४॥

अप्रिय स्पर्श द्वेष-रत भी दुख-परम्परा को है अपनाता।
दुष्ट चित्त से कर्म बांध, परिणाम काल में वह दुख पाता ॥८५॥

स्पर्श-विरत नर अशोक बन दुख-परंपरा से लिप्त न बनता।
जल में ज्यों कमलिनी पत्र त्यों बन अलिप्त वह जग में रहता ॥८६॥

मन का विषय भाव कहलाता, राग हेतु वह प्रिय बन जाता।
द्वेष हेतु अप्रिय बनता समता से वीतराग कहलाता ॥८७॥

मन पदार्थ का ग्राहक है फिर पदार्थ मन का ग्राह्य कहाता।
राग हेतु वह प्रिय बनता द्वेष हेतु अप्रिय बन जाता ॥८८॥

पथाऽपहृत हथिनी में काम-गृद्ध रागातुर गज मर जाता।
तीव्र भाव आसक्त मनुज त्यों अकाल में ही विनाश पाता ॥८९॥

तीव्र द्वेष करता अप्रिय में दुःख उसी क्षण वह पाता नित।
निज दुर्दान्त दोष से दुखी, न इसमें भाव-दोष है किंचित् ॥९०॥

रुचिर भाव में परम राग, अप्रिय में करता द्वेष स्वतः।
वह अज्ञानी दुख पाता, होता न विरत मुनि लिप्त अतः ॥९१॥

भाव-पिपासानुग गुरु-क्लिष्ट स्वार्थवश अज्ञ विविध त्रस स्थावर।
जीवों का वध करता परितापित पीड़ित भी, उन्हें अधिकतर ॥९२॥

भाव-गृद्ध उत्पादन, रक्षण, संनियोग, व्यय, वियोग-लिप्त।
रहता, उसे कहाँ सुख, भोग समय भी रहता जबकि अतृप्त ॥९३॥

भाव-अतृप्त, पदार्थ ग्रहण में रहता लिप्त, न होता तुष्ट।
अतुष्टि दोष दुखी पर द्रव्य चुरा लेता वह लोभाविष्ट ॥९४॥

भाव-ग्रहण में अतृप्त तृष्णाभिभूत हो वह चोरी करता।
लोभ-दोष से झूठ-कपट बढ़ता, फिर दुख से छूट न सकता ॥९५॥

झूठ बोलते समय व पहले पीछे होता दुखी दुरन्त।
त्यों चोरी-रत भाव-अतृप्त अनाश्रित पाता दुख अत्यन्त ॥९६॥

भाव-गृद्ध को कहीं कदाचित् किंचित् भी क्या सुख हो पाता ?
प्राप्ति काल में दुख, फिर भोग समय, अतृप्ति का दुख हो जाता ।।९७।।

अप्रिय भाव द्वेष-रत भी दुख-परंपरा को है अपनाता।
दुष्ट चित्त से कर्म बाँध, परिणाम काल में वह दुख पाता ।।९८।।

भाव-विरत नर अशोक बन दुख-परंपरा से लिप्त न बनता।
जल में ज्यों कमलिनी पत्र त्यों अलिप्त बन कर जग में रहता ।।९९।।

इन्द्रिय, मन के विषय, सरागी नर के दुःख हेतु होते हैं।
वीतराग के लिए न किंचित् भी वे दुखदायी होते हैं ।।१००।।

समता और विकारों के ये हेतु न होते काम व भोग।
उन में राग, द्वेष, मोह से सविकारी बनते हैं लोग ।।१०१।।

क्रोध मान फिर कपट लोभ व जुगुप्सा अरति तथा रतिजान।
हास्य, शोक, भय, पुं, स्त्री, क्लीव वेद विविध भाव पहचान ।।१०२।।

यों अनेक विध इन भावों को कामासक्त प्राप्त होता है।
फिर वह प्राणी करुणास्पद, लज्जित व दीन अप्रिय होता है ।।१०३।।

योग्य शिष्य, तप फल को भी चाहे न लिप्सु-मुनि हो अनुतप्त।
इन्द्रिय-चोरों के वश, अमित विकारों से होता संतप्त ।।१०४।।

मोह-जलधि में ततः डुबोने वाले कारण पैदा होते।
उनको पाने, दुख हरने-हित, मनुज सुखैषी उद्यत होते ।।१०५।।

शब्दादिक प्रिय-अप्रिय इन्द्रिय जन्य विषय जो हैं वे सब ही।
विरत मनुज के मन में राग-द्वेष न पैदा करते कब ही ।।१०६।।

यों संकल्प-विकल्पों से समता पैदा हो जाती स्पष्ट।
विषयों में समभावों से फिर काम-लालसा होती नष्ट ।।१०७।।

वीतराग, कृतकृत्य वही फिर हो जाता क्षण-भर में जान।
ज्ञान दर्शनावरण व अन्तराय को क्षय करता मतिमान ।।१०८।।

ततः अमोह गतान्तराय सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाता।
शुद्ध, अनाश्रव, ध्यान, समाधियुक्त आयुः क्षय कर शिव पाता ।।१०९।।

जिनसे जीव सतत पीड़ित उन सब दुःखों से होता विरहित।
दीर्घामय से मुक्त, प्रशस्त, कृतार्थ, अतीव सुखी होता नित ।।११०।।

यह अनादिकालीन दुःख सब मोक्षणार्थ पथ कहा प्रवर।
कर स्वीकार इसे क्रमशः अत्यन्त सुखी हो जाते नर ।।१११।।

तैंतीसवाँ अध्ययन

कर्म-प्रकृति

जिनसे बंधा हुआ यह प्राणी जग में करता परिवर्तन
उन आठों कर्मों का क्रमशः यहाँ करूँगा मैं वर्णन ॥१॥

ज्ञानावरण तथा फिर दर्शन आवरणीय दूसरा कर्म।
वेदनीय फिर मोह तथा आयुष्य कर्म का समझो मर्म ॥२॥

नाम कर्म है गोत्र कर्म फिर अन्तराय को पहचानो।
इन आठों कर्मों का यों संक्षिप्ततया वर्णन जानो ॥३॥

ज्ञानावरण पंचधा यों है, श्रुत, फिर आभिनिबोधिक ज्ञान।
अवधिज्ञान तीसरा, मनोज्ञान फिर केवलज्ञान महान ॥४॥

निद्रा, प्रचला, निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला फिर पहचान।
स्त्यान-गृद्धि है भेद पाँचवाँ इन सब को समझो मतिमान ! ॥५॥

चक्षु अचक्षु अवधि केवल-दर्शन आवरण यहाँ ज्ञातव्य।
नौ प्रकार का कर्म दर्शनावरण कहा है समझो, भव्य ! ॥६॥

दो प्रकार का वेदनीय है, सात, असात विभेद प्रधान।
फिर इन दोनों ही कर्मों के होते बहुत भेद मतिमान ! ॥७॥

दो प्रकार का मोहनीय है दर्शन तथा चरण पहचान।
तीन भेद दर्शन के, दो चारित्र-मोह के भेद महान ॥८॥

है सम्यक्त्व मोह, मिथ्यात्व मोह, सम्यग् मिथ्यात्व सही।
दर्शन-मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ ये हैं, स्पष्ट कही ॥९॥

अब चारित्र-मोह फिर दो प्रकार का है ज्ञातव्य सुजान !
कषाय मोहनीय है फिर नोकषाय मोहनीय पहचान ॥१०॥

कषाय मोहनीय के सोलह भेद यहाँ पर स्पष्ट कहे।
नोकषाय के सात तथा फिर विकल्प से नौ भेद रहे ॥११॥

नैरेयिक आयुष्य व तिर्यग् आयु, मनुज आयुष्य, विचार।
देवायुष्य भेद चौथा, आयुष्य कर्म यों चार प्रकार ॥१२॥

दो प्रकार का नाम कर्म है, शुभ व अशुभ जग में प्रख्यात ।
शुभ के बहुत भेद, त्यों अशुभ नाम के बहुत भेद आख्यात ।।१३।।

गोत्र कर्म भी दो प्रकार है, उच्च नीच संज्ञा से जान ।
इन दोनों के आठ-आठ होते हैं भेद, समझ मतिमान ।।१४।।

दान लाभ फिर भोग तथा उपभोग वीर्य संज्ञा पहचान ।
अन्तराय यों पाँच प्रकार कहा संक्षिप्ततया धीमान ।।१५।।

मूल तथा उत्तर की ये सब कर्म-प्रकृतियाँ कही प्रखर ।
प्रदेशाग्र फिर क्षेत्र काल से और भाव से सुन उत्तर ।।१६।।

सब कर्मों के प्रदेशाग्र हैं एक समय में ग्राह्य अनन्त ।
ग्रन्थिक सत्वातीत व सिद्धों के अनन्तवें भाग, दुरन्त ।।१७।।

छहों दिशाओं से सब जीव कर्म-पुद्‌गल संग्रह करते हैं ।
सभी कर्म-पुद्‌गल सब आत्म-प्रदेश-बद्ध होकर रहते हैं ।।१८।।

कोटि-कोटि है तीस सागरोपम उत्कृष्टतया स्थिति जान ।
इन चारों कर्मों की जघन्य स्थिति है अन्तर्मुहूर्त मान ।।१९।।

ज्ञानावरण व वेदनीय दर्शनावरण की स्थिति पहचान ।
अन्तराय की भी उपरोक्त कही है स्थिति समझो मतिमान! ।।२०।।

सत्तर कोटि-कोटि सागर की है उत्कृष्टतया स्थिति जान ।
मोहनीय की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है मतिमान ! ।।२१।।

है तेतीस सागरोपम की स्थिति उत्कृष्टतया पहचान ।
आयु कर्म की जघन्यतः स्थिति है फिर अन्तर्मुहूर्त मान ।।२२।।

विंशति कोटि-कोटि सागर की है उत्कृष्टतया स्थिति जान ।
नाम गोत्र की जघन्यतः स्थिति आठ मुहूर्त काल-परिमाण ।।२३।।

सर्व कर्मानुभाग हैं, सिद्धों के अनन्तवें भाग समान ।
सब जीवों से भी ज्यादा, सब अनुभागों का प्रदेश मान ।।२४।।

अतः बुद्ध जन इन कर्मों के अनुभागों को जान मुदा ।
इन्हें निरोध तथा क्षय करने-हित मुनि उद्यम करे सदा ।।२५।।

चौतीसवाँ अध्ययन

लेश्या

क्रमशः अनुपूर्वी से लेश्याऽध्ययन कहूँगा मैं तुमसे।
छहों कर्म लेश्याओं के अनुभावों को तू सुन मुझसे ॥१॥

लेश्याओं के नाम, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श और परिणाम।
लक्षण, स्थान व स्थिति, गति तथा आयु को मुझसे सुन अविराम ॥२॥

कृष्ण, नील, कापोत व तेजो लेश्या पद्म पांचवीं जान।
छट्ठी कही शुक्ल लेश्या, ये नाम यथाक्रम से पहचान ॥३॥

स्निग्ध मेघ, गवलारिष्टक या कनीनिका सम वर्ण प्रकाम।
खंजन अंजन-तुल्य, कृष्ण लेश्या को कहा गया है श्याम ॥४॥

नील अशोक व चाष-विहग के पैर समान नील पहचान।
तथा स्निग्ध वैडूर्य समान नील लेश्या का वर्ण प्रधान ॥५॥

अलसी-सुमन, तैल-कंटक फिर पारावत के कंठ समान।
वर्ण यही कापोत तीसरी लेश्या का होता मतिमान ! ॥६॥

हिंगुल, गेरु समान तथा फिर सूर्य नवोदित-तुल्य सुवर्ण।
शुक की चोंच व दीप्त-शिखा सम, तेजो लेश्या का है वर्ण ॥७॥

प्रवर भिन्न हरिताल तथा फिर भिन्न हरिद्रा-तुल्य कहा।
सण व असन के सुम सम पीत पद्म लेश्या का वर्ण रहा ॥८॥

शंख, अंक-मणि, कुन्द कुसुम, दुग्ध-धार फिर रजत समान।
मुक्ताहार समान शुक्ल लेश्या का वर्ण कहा मतिमान ॥९॥

कटु तुम्बक-रस, कटुक निम्ब-रस कटुक रोहणी-रस से भी।
जान अनन्त गुनाधिक कटुक, कृष्ण लेश्या के रस को भी ॥१०॥

त्रिकटु और हस्ती-पीपल-रस जैसा होता तीक्ष्ण महान।
उससे तीक्ष्ण अनन्त गुनाधिक नीला का रस है पहचान ॥११॥

कच्चे आम, कपित्थ-तुवर रस ज्यों कि कसैला है होता।
उससे जान अनन्त गुनाधिक कापोता का रस होता ॥१२॥

पक्व कपित्थ व पक्व ग्राम-रस जैसा खट-मीठा होता।
इससे अधिक अनन्त गुना, तेजो लेश्या का रस होता ॥१३॥

प्रवर सुरा फिर विविध ग्रासवों या मधु मैरेयक-रस होता।
उससे जान अनन्त गुनाधिक अम्ल, पद्म लेश्या-रस होता ॥१४॥

खजूर, दाख, क्षीर, शक्कर या खांड मधुर रस जैसा होता।
उससे अधिक अनन्त गुना रस मधुर शुक्ल लेश्या का होता ॥१५॥

मृतक गाय, फिर मृतक श्वान या मृतक सर्प में जैसी गंध।
अप्रशस्त लेश्याओं में उससे भी अनन्त गुना दुर्गंध ॥१६॥

सुरभित सुम या पिष्यमाण केशरी-कस्तूरी से भी बढ़कर।
गंध अनन्त गुना है तीनों प्रशस्त लेश्याओं की सुखकर ॥१७॥

करवत, गो-जिह्वा फिर शाकपत्र का जैसा होता स्पर्श।
उससे अधिक अनन्त गुना अप्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श ॥१८॥

बूर तथा नवनीत सरीष-कुसुम का मृदु होता ज्यों स्पर्श।
प्रशस्त लेश्यात्रय का उससे भी अनन्त गुण मृदु है स्पर्श ।१९॥

तीन तथा नौ, सप्त बीस, इक्यासी दो सौ तेतालीस।
इतने हैं लेश्याओं के परिणाम यहाँ कहते जगदीश ॥२०॥

पंचाश्रवी, त्रिगुप्ति-अगुप्त व छह कायों में अविरत है।
तीव्रारंभ-रक्त जो क्षुद्र, साहसिक, नित्य पापरत है ॥२१॥

इह-परलौकिक शंकारहित, नृशंस और अजितेन्द्रिय होता।
जो इन सब से युक्त, कृष्ण लेश्या में वह परिणत है होता ॥२२॥

ईर्ष्यालु, कदाग्रही व मायी, अतपस्वी, शठ, लज्जाहीन।
गृद्ध, अज्ञ, द्वेषी, प्रमत्त, रसलोल, सुखैषी, पाप-प्रवीण ॥२३॥

फिर आरम्भ-अनुपरत, क्षुद्र व अविचारित जो करता कृत्य।
इन सबसे वह युक्त, नील लेश्या में परिणत होता नित्य ॥२४॥

वचन-वक्र, फिर वक्राचारी, कपटी जो कि सरलता-हीन।
अपने दोष छुपाता, मिथ्यादृष्टि, अनार्य, छद्म में लीन ॥२५॥

दर्वचनी, हँसोड़, चोर, मत्सरी मनुज जो होता है।
इन सबसे युत, वह कपोत लेश्या में परिणत होता है ॥२६॥

नमनशील अचपल अकुतूहल मायारहित व विनय-निपुण फिर।
दान्त समाधि-युक्त उपधान-तपस्या करने वाला जो नर ॥२७॥

दृढ़धर्मी, प्रियधर्मी, पाप-भीरु है, मुक्ति-गवेषक वर।
इन सब से युत, वह तेजो लेश्या में परिणत होता नर ॥२८॥

क्रोध मान माया व लोभ जिस नर के हृदय स्वल्पतम है।
समाधि-युत, उपधानवान, दान्तात्मा और शान्त-मन है ॥२९॥

अतीव मितभाषी उपशान्त जितेन्द्रिय होता आर्य प्रवर।
इन सबसे जो युक्त, पद्म लेश्या में परिणत होता नर ॥३०॥

आर्त्त-रौद्र को छोड़ धर्म फिर शुक्ल ध्यान में रहता लीन।
समित, प्रशान्त-चित्त, दान्तात्मा, गुप्ति-गुप्त जो मनुज प्रवीण ॥३१॥

सराग या फिर वीतराग, उपशान्त जितेन्द्रिय संयत है।
इन सब से जो युक्त, शुक्ल लेश्या में होता परिणत है ॥३२॥

असंख्य कालचक्र के समय व तथा असंख्य लोक के जान।
जितने होते हैं प्रदेश, उतने हैं लेश्याओं के स्थान ॥३३॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त स्थिति, उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या की जान।
अन्तर्मुहूर्त काल अधिक तेतीस सागरोपम परिमाण ॥३४॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त स्थिति, उत्कृष्ट नील लेश्या की जान।
पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागर मान ॥३५॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त स्थिति, उत्कृष्ट तीन सागर उपमान।
और पल्य के असंख्यातवें भाग अधिक कापोतिक जान ॥३६॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त स्थिति, उत्कृष्ट उभय सागर परिमाण।
और पल्य के असंख्यातवें भाग अधिक तेजस् की जान ॥३७॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त स्थिति, उत्कृष्ट पद्म लेश्या की जान।
अन्तर्मुहूर्त काल अधिक दश सागर की होती मतिमान! ॥३८॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त स्थिति उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या की जान।
अन्तर्मुहूर्त काल अधिक तेतीस सागरोपम परिमाण ॥३९॥

लेश्याओं की औघतया स्थिति यह वर्णित की गई श्रमण!
चारों गतियों में लेश्या-स्थिति का अब करता हूं वर्णन ॥४०॥

दश सहस्राब्द जघन्य स्थिति, अधिकाधिक कापोता की जान ।
पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक सागरत्रय मान ।।४१।।

जघन्य पल्य असंख्य विभाग अधिक सागरत्रय, नील-स्थिति है ।
पल्य असंख्य विभाग अधिक दश सागर की उत्कृष्ट कथित है ।।४२।।

जघन्य पल्य असंख्य विभाग अधिक दश सागर स्थिति वर्णित है ।
तीन तीस सागर उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या की स्थिति निर्णित है ।।४३।।

यह है नारक जीवों के लेश्याओं की स्थिति का वर्णन ।
यहाँ करूँगा अब तिर्यंग् नर सुर लेश्या-स्थिति का वर्णन ।।४४।।

छोड़ शुक्ल लेश्या को नर पशुओं में जितनी लेश्या होती ।
इन सब की उत्कृष्ट जघन्यतया स्थिति अंतर्मुहूर्त होती ।।४५।।

जघन्य अंतर्मुहूर्त मान शुक्ल लेश्या की स्थिति पहचान ।
नौ वत्सर कम कोटि पूर्व की स्थिति उत्कृष्ट कही मतिमान ।।४६।।

किया गया है यह तिर्यंग् नर लेश्याओं की स्थिति का वर्णन ।
यहाँ करूँगा अब देवों की लेश्याओं की स्थिति का वर्णन ।।४७।।

जघन्य दश हजार वर्षों की स्थिति, उत्कृष्टतया पहचान ।
कृष्णा की है पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण ।।४८।।

कृष्णोत्कृष्टाऽवधि से समयाधिक नील-स्थिति जघन्य जानो ।
पल्य असंख्य भाग जितनी उत्कृष्टतया स्थिति है पहचानो ।।४९।।

नीलोत्कृष्टाऽवधि से समयाधिक कापोता की जघन्य है ।
पल्य असंख्य भाग जितनी उत्कृष्टतया स्थिति यहाँ गण्य है ।।५०।।

भवनाधिप व्यन्तर व ज्योतिषी, वैमानिक देवों की सत्वर ।
तेजो लेश्या की स्थिति का अब वर्णन यहाँ करूँगा सुन्दर ।।५१।।

जघन्य एक पल्य की स्थिति तेजो की, अब उत्कृष्ट विधान ।
पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर मान ।।५२।।

तेजो लेश्या की कम से कम दश हजार हायन की स्थिति है ।
पल्य असंख्य विभाग अधिक दो सागर की स्थिति अधिकाधिक है ।।५३।।

तेजो की उत्कृष्ट अवधि से समयाधिक कम से कम जान ।
पद्मा की उत्कृष्ट अवधि दश सागर अंतर्मुहूर्त मान ।।५४।।

पद्मोत्कृष्टाऽवधि से समयाधिक जघन्यतः शुक्ल स्थिति है।
अंतर्मुहूर्त ज्यादा तीन तीस सागर उत्कृष्ट अवधि है ॥५५॥

कृष्ण नील कापोत तीन ये अधर्म लेश्याएँ पहचान।
इन तीनों से दुर्गति में जाता है जीव, समझ मतिमान ॥५६॥

तेजस् पद्म शुक्ल ये तीनों कही धर्म लेश्याएं अत्र।
इन तीनों से जीव सुगति में जाता, सधता अत्र-परत्र ॥५७॥

प्रथम समय में परिणत इन सब लेश्याओं में कोई प्राणी।
नहीं दूसरे भव में पैदा होता है यह प्रभु की वाणी ॥५८॥

चरम समय में परिणत इन सब लेश्याओं में कोई प्राणी।
नहीं दूसरे भव में पैदा हो सकता, यह प्रभु की वाणी ॥५९॥

अंतर्मुहूर्त जाने पर अन्तर्मुहूर्त जब रहता शेष।
लेश्याओं की इस स्थिति में पर-भव में जाते जीव अशेष ॥६०॥

इसीलिए इन लेश्याओं के अनुभागों को समझ सुजान।
अप्रशस्त तज प्रशस्त को स्वीकार करे जो मनुज महान ॥६१॥

पैंतीसवाँ अध्ययन

अनगार-मार्गगति

हो एकाग्र सुनो मेरे से बुद्ध-प्रवेदित मार्ग तुरन्त ।
जिसका करता हुआ आचरण, भिक्षु दुखों का करता अन्त ॥१॥

छोड़ गृहस्थ वास को, कर स्वीकार प्रव्रज्या को मुनिवर ।
वह इन संगों को जाने, जिनसे कि लिप्त होते हैं नर ॥२॥

हिंसा झूठ तथा चोरी अब्रह्म-निसेवन का परिहार ।
इच्छा काम व लोभ सर्वथा तजे संयमी मुनि हर बार ॥३॥

माल्य-धूप से वासित, मनहर, चित्रित-गृह सकपाट सही ।
श्वेत चन्दवा युक्त स्थान की मन से इच्छा करे नहीं ॥४॥

उस प्रकार के कामराग-संवर्धक उपाश्रयों में जान ।
मुनि के लिए इन्द्रियों पर काबू कर पाना कठिन महान ॥५॥

अतः श्मशान वृक्ष के नीचे शून्यागार स्थान एकान्त ।
पर-कृत गृह में एकाकी मुनि रहना चाहे, दान्त नितान्त ॥६॥

प्रासुक, अनाबाध, नारीगण-उपद्रवों से विरहित स्थान ।
वहाँ वास करने का शुभ संकल्प करे मुनिवर गुणवान ॥७॥

न स्वयं सदन बनाए, पर से भी बनवाए नहीं भिक्षुवर ।
गृह-निर्माण कार्य में भूतों का वध होता है दृग्-गोचर ॥८॥

त्रस या स्थावर सूक्ष्म व बादर जीवों का होता प्रहनन ।
अतः संयती गृहारम्भ कार्यों का त्याग करे शुभ मन ॥९॥

भक्त-पान के पचन व पाचन में त्यों होती हिंसा जान ।
अतः पचन, पाचन को छोड़े जीव-दयार्द्र श्रमण मतिमान ॥१०॥

जल-आश्रित, धान्याश्रित, भूम्याश्रित, काष्ठाश्रित प्राणी मरते ।
अतः न भक्त-पान पकवाए, भिक्षु शान्त मन सदा विचरते ॥११॥

प्रसरणील, सर्वतोधार व बहुत जीव-नाशक कहलाए ।
अग्नि समान न शस्त्र दूसरा अतः न उसको भिक्षु जलाए ॥१२॥

स्वर्ण, लोष्ट्र को समान समझे, क्रय-विक्रय से विरत प्रवर।
स्वर्ण, रजत को मन से कभी नहीं चाहे, सच्चा मुनिवर ॥१३॥

क्रय करने से क्रयिक और विक्रय से वणिक् कहा जाता।
क्रय-विक्रय में वर्तन करने वाला भिक्षु न कहलाता ॥१४॥

भिक्षाशील भिक्षु को भिक्षा-वृत्ति उचित, क्रेतव्य नहीं है।
महादोष है क्रय-विक्रय सुखदायक भिक्षा-वृत्ति कही है ॥१५॥

सूत्र-अनिन्दित फिर समुदानिक उञ्छएषणा श्रमण करे।
तुष्ट अलाभ-लाभ में, पिण्डपात की चर्या वहन करे ॥१६॥

अलोल फिर रस-अगृद्ध जिह्वा-दान्त अमूर्छित महामुनि।
रस के लिए न खाए, संयम यापनार्थ खाए सुगुणी ॥१७॥

ऋद्धि, अर्चना, रचना, पूजा, मान, वन्दना या सत्कार।
इनकी मन से भी न कभी अभिलाषा करे, महा अनगार ॥१८॥

शुक्ल-ध्यान ध्याए, अनिदान अकिंचन रहे सतत मतिमंत।
मुनि व्युत्सृष्ट काय होकर विचरे जग में जीवन पर्यन्त ॥१९॥

काल-धर्म समुपस्थित होने पर, करके भोजन परिहार।
मुनि समर्थ, नरदेह छोड़ सब दुःख-मुक्त होता अनगार ॥२०॥

निर्मम निरहंकार अनाश्रव वीतराग बन जाता है।
शाश्वत केवलज्ञान प्राप्त कर, परिनिर्वृत हो जाता है ॥२१॥

छत्तीसवाँ अध्ययन

जीवाजीव-विभक्ति

हो एकाग्र सुनो अब मुझसे जीवाजीव-विभाग प्रधान।
जिन्हें जान सम्यग् संयम में करता श्रमण प्रयत्न महान ॥१॥

जीव तथा जो अजीवमय है कहा गया है लोक उसे।
है अजीव का देशाकाश निकेवल, कहा अलोक उसे ॥२॥

द्रव्य क्षेत्र फिर काल भाव से चार प्रकार कही मतिमान।
प्ररूपणा इन जीव-अजीव उभय की स्पष्टतया पहचान ॥३॥

रूपी और अरूपी भेद उभय, अजीव के यहाँ कहे।
तथा अरूपी के दश भेद व रूपी के फिर चार कहे ॥४॥

है धर्मास्तिकाय फिर उसका देश तथा फिर प्रदेश जान।
और अधर्म-स्कन्ध, तद्देश, प्रदेश भेद हैं कहे सुजान! ॥५॥

फिर आकाश-स्कन्ध, तद्देश, प्रदेश भेद ये तीन कहे।
अध्वासमय भेद दसवाँ, यों अरूप के दश भेद रहे ॥६॥

धर्माऽधर्म उभय ये लोकप्रमाण कहे हैं, शिष्य सुजान!
लोकालोक मान आकाश, काल है समय-क्षेत्र परिमाण ॥७॥

धर्माधर्माकाश तीन ये द्रव्य अनादि अनन्त महान।
और सार्वकालिक ये होते हैं इनको समझो मतिमान ॥८॥

है प्रवाह सापेक्ष तथा यह काल अनादि अनन्त यहाँ।
हर क्षण अलग-अलग होने से सादि सान्त फिर इसे कहा ॥९॥

स्कन्ध व स्कन्ध-देश फिर स्कन्ध-प्रदेश और परमाणु सुजान!
रूपी पुद्गल के ये चार विभेद किए हैं, तू पहचान ॥१०॥

बहु परमाणु इकट्ठे होने पर बनता है स्कन्ध महान।
उसका पृथक्त्व होने से, बनते परमाणु, यहाँ पहचान।

क्षेत्र अपेक्षा से वे लोक-देश में या सर्वत्र भाज्य सब॥
उनका काल-विभाग चतुर्विध, यहाँ कहूँगा तेरे से अब ॥११॥

सभी प्रवाह-अपेक्षा से वे यहाँ अनादि अनन्त कहे।
स्थिति सापेक्षतया वे सारे सादि सान्त फिर यहाँ रहे॥१२॥

जघन्य एक समय की फिर, उत्कृष्ट असंख्य-काल परिमाण।
रूपी अजीव द्रव्यों की यह स्थिति वर्णित है, तू पहचान॥१३॥

जघन्य एक समय का फिर उत्कृष्ट अनन्त काल-परिमाण।
रूपी अजीव द्रव्यों का यह अन्तर, कहा गया मतिमान॥१४॥

वर्ण गंध फिर रस स्पर्श संस्थान अपेक्षा से पहचान।
पाँच तरह से उन सबका परिवर्तन होता है मतिमान! ॥१५॥

वर्ण अपेक्षा से उनकी परिणति होती फिर पाँच प्रकार।
कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र व शुक्ल नाम से है साकार॥१६॥

दो प्रकार से परिणति होती गंध अपेक्षा से फिर उनकी।
सुरभि गंध या फिर दुर्गंध नाम से यहाँ ख्याति है जिनकी॥१७॥

रस-सापेक्षतया फिर उनकी परिणति पाँच प्रकार कथित है।
तिक्त कटुक व कसैला खट्टा मधुर नाम से जो कि प्रथित है॥१८॥

स्पर्श अपेक्षा से फिर उनकी परिणति होती आठ प्रकार।
कर्कश प्रथम ततः मृदु फिर गुरु, लघु प्रभेद चौथा साकार॥१९॥

ततः शीत फिर उष्ण तथा फिर स्निग्ध, रूक्ष फिर हैं आख्यात।
सभी स्पर्श से ये परिणत हैं पुद्गल संज्ञा से प्रख्यात॥२०॥

संस्थानापेक्षा से उनकी परिणति होती पाँच प्रकार।
है परिमंडल, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्क और आयत आकार॥२१॥

जो कि वर्ण से कृष्ण, पौद्गलिक होता स्कंध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान, गंध, रस और स्पर्श से होता भाज्य, सुजान!॥२२॥

जो कि वर्ण से नील, पौद्गलिक होता स्कंध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान, गंध, रस और स्पर्श से होता भाज्य, सुजान!॥२३॥

जो कि वर्ण से रक्त, पौद्गलिक होता स्कंध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान, गंध, रस और स्पर्श से होता भाज्य, सुजान॥२४॥

जो कि वर्ण से पीत, पौद्गलिक होता स्कंध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान, गंध, रस और स्पर्श से होता भाज्य, सुजान!॥२५॥

जो कि वर्ण से श्वेत, पौद्गलिक होता स्कंध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान, गंध, रस और स्पर्श से होता भाज्य, सुजान! ॥२६॥

जो कि गंध से सुगन्ध वाला होता पुद्गल-स्कन्ध विशेष।
वह संस्थान, वर्ण, रस और स्पर्श से होता भाज्य, अशेष! ॥२७॥

जो कि गंध से होता है दुर्गंध युक्त पुद्गल पहचान।
वह संस्थान, वर्ण, रस और स्पर्श से होता भाज्य, सुजान! ॥२८॥

रस से जो कि तिक्त होता है पुद्गल-स्कन्ध, यहाँ पहचान।
वर्ण, गंध, संस्थान, स्पर्श से होता है वह भाज्य, सुजान! ॥२९॥

जो रस से कड़ुवा होता है पुद्गल स्कन्ध, यहाँ पहचान।
वर्ण, गंध, संस्थान, स्पर्श से होता है वह भाज्य, सुजान! ॥३०॥

रस से जो कि कसैला होता पुद्गल-स्कन्ध, यहाँ पहचान।
वर्ण, गंध, संस्थान, स्पर्श से होता है वह भाज्य, सुजान! ॥३१॥

रस से जो खट्टा होता है पुद्गल-स्कन्ध, यहाँ पहचान।
वर्ण, गंध, संस्थान, स्पर्श से होता है वह भाज्य, सुजान! ॥३२॥

रस से जो कि मधुर होता है पुद्गल-स्कन्ध, यहाँ पहचान।
वर्ण, गंध, संस्थान, स्पर्श से होता है वह भाज्य, सुजान! ॥३३॥

जो कि स्पर्श से कर्कश होता पुद्गल-स्कन्ध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान व वर्ण, गंध, रस से भाजित होता मतिमान! ॥३४॥

जो कि स्पर्श से मृदु होता है पुद्गल-स्कंध यहाँ पहचान।
वह संस्थान व वर्ण, गंध, रस से भाजित होता मतिमान! ॥३५॥

जो कि स्पर्श से गुरु होता है पुद्गल-स्कन्ध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान व वर्ण, गंध, रस से भाजित होता मतिमान! ॥३६॥

जो कि स्पर्श से लघु होता है पुद्गल-स्कंध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान व वर्ण, गंध, रस से भाजित होता मतिमान! ॥३७॥

जो कि स्पर्श से शीत पौद्गलिक होता स्कंध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान व वर्ण, गंध, रस से भाजित होता मतिमान! ॥३८॥

जो कि स्पर्श से उष्ण पौद्गलिक होता स्कंध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान व वर्ण, गंध, रस से भाजित होता मतिमान! ॥३९॥

जो कि स्पर्श से स्निग्ध पौद्गलिक होता स्कंध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान व वर्ण, गंध, रस से भाजित होता मतिमान ! ॥४०॥

जो कि स्पर्श से रूक्ष पौद्गलिक होता स्कंध, यहाँ पहचान।
वह संस्थान व वर्ण, गंध, रस से भाजित होता मतिमान! ॥४१॥

परिमंडल संस्थान युक्त पौद्गलिक स्कंध होता मतिमान !
वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से वह भाजित होता, पहचान ॥४२॥

जो वर्तुल संस्थान युक्त होता है पुद्गल-स्कंध, सुजान !
वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से वह भाजित होता, पहचान ॥४३॥

जो त्रिकोण संस्थान युक्त होता है पुद्गल-स्कंध, सुजान !
वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से वह भाजित होता, पहचान ॥४४॥

चतुष्कोण संस्थानवान जो होता पुद्गल-स्कन्ध, सुजान !
वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से वह भाजित होता, पहचान ॥४५॥

जो आयत-संस्थानवान होता है पुद्गल-स्कंध, सुजान !
वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से वह भाजित होता, पहचान ॥४६॥

यह संक्षिप्त अजीव-विभाग कहा है मैंने हे मतिमान !
अब क्रमशः मैं जीव-विभाग कहूँगा, शिष्य ! सुनो धर ध्यान ॥४७॥

दो प्रकार के जीव कहे हैं संसारी व सिद्ध भगवान।
सिद्धों के हैं भेद अनेकों उन्हें कहूँगा सुनो सुजान ! ॥४८॥

है स्त्रीलिंग सिद्ध, पुल्लिग, नपुंसकलिंग सिद्ध पहचान।
और स्वलिंग व अन्यलिंग गृहलिंग सिद्ध, ये भेद महान ॥४९॥

फिर उत्कृष्ट, जघन्य व मध्यम कद में, जलाशयों में सिद्ध।
अधः व तिर्यग्, ऊर्ध्व लोक में और उदधि में होते सिद्ध ॥५०॥

एक समय में क्लीवलिंग दश और बीस नारियाँ-प्रधान।
प्रवर एक सौ आठ पुरुष, हो सकते सिद्ध, यहाँ पहचान ॥५१॥

गृहीलिंग में चार, अन्यलिंगी दश, स्वलिंग में फिर जान।
अष्टोत्तर शत एक समय में हो सकते हैं सिद्ध महान ॥५२॥

जघन्य कद में चार व मध्यम कद में अष्टोत्तर शत मान।
उत्कृष्टाऽवगाहना में दो युगपद् होते सिद्ध सुजान ! ॥५३॥

ऊर्ध्व लोक में चार, सिन्धु में दो फिर जल में तीन प्रसिद्ध ।
अधः बीस, तिरछे में अष्टोत्तर शत, एक समय में सिद्ध ॥५४॥

सिद्ध कहाँ रुकते हैं, कहाँ प्रतिष्ठित होते सिद्ध महान ?
कहाँ छोड़ते तन को, होते जाकर कहाँ सिद्ध भगवान ॥५५॥

अलोक में रुकते हैं सिद्ध और लोकाग्र भाग में स्थित हैं ।
यहाँ देह को छोड़ वहाँ जाकर के होते सिद्ध प्रथित हैं ॥५६॥

है सर्वार्थसिद्ध से बारह योजन ऊपर छत्राकार ।
पृथ्वी ईषत्-प्राग्भारा संज्ञा से विश्रुत है संसार ॥५७॥

लम्बी-चौड़ी है वह पैंतालीस लाख योजन परिमाण ।
उससे तिगुनी परिधि सिद्ध शिला की कही गई मतिमान ॥५८॥

मध्य भाग में शिला आठ योजन की मोटी, फिर वह क्रम से ।
हीय मान मक्षिका-पंख से भी पतली अन्तिम-अंचल से ॥५९॥

श्वेत सुवर्णमयी स्वभाव से वह निर्मल पृथ्वी पहचान ।
फिर उत्तान छत्रकाऽऽकारवती जिनवर ने कही महान ॥६०॥

शंख, अंकमणि, कुन्द कुसुम सम, श्वेत शुद्ध वह अति निर्मल ।
उस सीता पृथ्वी से योजन ऊपर है लोकान्त अचल ॥६१॥

उस योजन के ऊपर का जो कोस प्रमाण वहाँ आकाश ।
उसके छट्ठे हिस्से में सिद्धों की जहाँ अवस्थिति खास ॥६२॥

महाभाग वे सिद्ध वहाँ लोकाग्र-भाग में सुस्थित हैं ।
भव-प्रपंच से मुक्त, प्रधान सिद्धगति-गत, आत्म-स्थित हैं ॥६३॥

अन्तिम भव में जिस मानव की जितनी ऊंचाई है होती ।
उससे एक तिहाई कम, पहचान अवस्थिति उसकी होती ॥६४॥

वे एकत्व अपेक्षा से हैं सादि अनन्त कहे अम्लान ।
और बहुत अपेक्षा से वे सिद्ध अनादि, अनन्त महान ॥६५॥

सघन अरूपी और ज्ञान दर्शन में सोपयुक्त संतत हैं ।
अनुपम अतुल सौख्य-संपन्न सिद्ध होते हैं, सही कथित है ॥६६॥

सतत ज्ञान-दर्शन-उपयुक्त व लोक एक देश स्थित हैं ।
भवसागर निस्तीर्ण, श्रेष्ठ गति को संप्राप्त, सुशोभित हैं ॥६७॥

हैं संसारी जीव यहाँ पर दो प्रकार से कथित सुजान !
त्रस, स्थावर दो भेद व स्थावर के हैं तीन भेद पहचान ॥६८॥

पृथ्वी, पानी और वनस्पति मूल भेद स्थावर के तीन।
अब उत्तर भेदों को मुझसे सुनो शिष्य ! हो कर तल्लीन ॥६९॥

पृथ्वी-जीवों के विभेद दो, सूक्ष्म और बादर पहचान।
इनके दो-दो भेद कहे फिर अपर्याप्त, पर्याप्त महान ॥७०॥

अब बादर पर्याप्त भूमि-जीवों के दो विभेद आख्यात।
पहला मृदु व कठोर दूसरा, मृदु के भेद कहे फिर सात ॥७१॥

कृष्ण नील फिर रक्त पीत फिर श्वेत पांडु फिर पनक कही।
कठोर पृथ्वी के जीवों के हैं छत्तीस प्रभेद सही ॥७२॥

पृथ्वी, उपल, शर्करा, शिला, बालुका, लवण व नौनी जान।
लोहा, रांगा, तांबा, शीशा, रजत, सुवर्ण, वज्र पहचान ॥७३॥

मनःशिला, हिंगुल, प्रवाल, फिर सस्यक, अंजन है हरिताल।
अभ्रक पटल, अभ्र बालुक, अब सुन बादर मणियों के हाल ॥७४॥

गोमेदक फिर रुचक अंकमणि स्फटिक व लोहिताक्ष पहचान।
मरकत, मसारगल्ल रत्न, भुज मोचक, इन्द्रनील मणि जान ॥७५॥

चन्दन, गेरुक, हंसगर्भ मणि, पुलक व सौगन्धिक वोधव्य।
चन्द्रप्रभ, वैडूर्य व सूर्यकान्त जलकान्त भेद श्रोतव्य ॥७६॥

कठोर पृथ्वी के जीवों के ये छत्तीस भेद आख्यात।
सूक्ष्म भूमि-प्राणी अविविध होने से एक भेद प्रख्यात ॥७७॥

सर्व लोक में व्याप्त सूक्ष्म, फिर लोक एक भाग स्थित बादर।
अब मैं इनका काल-विभाग चतुर्विध यहाँ, कहूँगा स्फुटतर ॥७८॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे यहाँ अनादि अनन्त कहे।
स्थिति सापेक्षतया पृथ्वी के सादि सान्त सब जीव रहे ॥७९॥

उन जीवों की जघन्यतः आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु स्थिति उनकी बाईस हजार वर्ष परिमाण ॥८०॥

पृथ्वी जीवों की काय-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त मान।
सतत जन्म है वहीं अतः उत्कृष्ट असंख्य काल परिमाण ॥८१॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
पृथ्वी जीवों का फिर वहीं जन्म लेने का अन्तर जान ॥८२॥

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यों भेद हजारों होते हैं समझो मतिमान! ॥८३॥

जल जीवों के दो विभेद हैं, सूक्ष्म और बादर पहचान।
फिर इनके दो-दो प्रभेद हैं अपर्याप्त पर्याप्त महान ॥८४॥

अप्कायिक बादर पर्याप्त जीव फिर पाँच प्रकार कथित हैं।
शुद्धोदक फिर हरतनु और कुहासा फिर हिम-सलिल प्रथित हैं ॥८५॥

सूक्ष्म सलिल प्राणी अविविध होने से एक भेद मित हैं।
सर्व लोक में व्याप्त व बादर लोक एक भाग स्थित हैं ॥८६॥

सतत प्रवाह-अपेक्षा से वे जीव अनादि अनन्त रहे।
स्थिति सापेक्षतया पानी के जीव सादि फिर सान्त कहे ॥८७॥

उन जीवों की जघन्यतः आयु स्थिति अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति है उनकी सात हजार वर्ष परिमाण ॥८८॥

जल के जीवों की काय-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त मान।
सतत जन्म है वहीं अतः उत्कृष्ट असंख्य काल परिमाण ॥८९॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
पानी जीवों का फिर पानी में आने का अन्तर जान ॥९०॥

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यों भेद हजारों होते हैं, समझो मतिमान! ॥९१॥

दो प्रकार के कहे वनस्पति जीव, सूक्ष्म बादर पहचान।
फिर उनके दो-दो प्रभेद हैं अपर्याप्त पर्याप्त महान ॥९२॥

अब बादर पर्याप्त हरित जीवों के होते हैं दो भेद।
पहला साधारण-शरीर है फिर प्रत्येक-शरीर प्रभेद ॥९३॥

अब प्रत्येक-शरीर हरित प्राणी नाना विध हैं आख्यात।
वृक्ष, गुच्छ फिर गुल्म, लता, वल्ली, तृण भेद यहाँ प्रख्यात ॥९४॥

लता-वलय, पर्वज व कुहण, जलरूह, हरित, औषधि-तृण, जान।
ये प्रत्येक-शरीर हरित कायिक हैं जीव विविध, पहचान ॥९५॥

अब साधारण-शरीर वाले जीव बहुत-विध वर्णित हैं।
आलू, मूली, अदरख आदिक नामों से जो सुविदित हैं ! ॥९६॥

हिरली, सिरिली, सिस्सिरिली, जावईकन्द, कंदली सुजान !
केद-कंदली-कन्द, प्याज, लहसुन, फिर कुस्तुम्बुक पहचान ॥९७॥

लोही और कुहुक फिर कृष्ण तथा फिर वज्रकंद पहचान।
सूरणकन्द आदि साधारण-हरितकाय के भेद प्रधान ॥९८॥

तथा अश्वकर्णी व सिंहकर्णी व मुसुंढी है ज्ञातव्य।
और हरिद्रादिक साधारण-शरीर हैं ये, समझो भव्य ! ॥९९॥

सूक्ष्म वनस्पति अविविध होने से फिर एक भेद मित है।
सर्व लोक व्याप्त व बादर लोक-एक देश स्थित है ॥१००॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे कहे अनादि अनन्त सुजान !
स्थिति सापेक्षतया वे हरित जीव हैं सादि सान्त पहचान ॥१०१॥

हरित प्राणियों की जघन्य आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति है उनकी दश हजार हायन परिमाण ॥१०२॥

पनक प्राणियों की काय-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त मान।
सतत जन्म है वहीं अतः उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण ॥१०३॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट असंख्य काल परिमाण।
पनक प्राणियों का फिर वहीं जन्म लेने का अन्तर जान ॥१०४॥

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श, संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यों भेद हजारों होते हैं समझो मतिमान ! ॥१०५॥

तीन प्रकार स्थावरों का है यह संक्षिप्ततया वर्णन।
त्रिविध त्रसों का अब मैं क्रमशः यहाँ करूँगा सुनिरूपण ॥१०६॥

तेजस् वायु तथा उदार त्रसकाय ज्ञेय ये तीन विभेद।
अब मुझसे तुम सुनो यहाँ पर इन तीनों के बहुत प्रभेद ॥१०७॥

तेजस् कायिक दो प्रकार हैं सूक्ष्म और बादर पहचान।
फिर इनके दो-दो विभेद हैं अपर्याप्त पर्याप्त महान ॥१०८॥

अब बादर पर्याप्त अग्नि के जीव अनेक प्रकार कहे।
मुर्मुर, अग्नि, अर्चि, ज्वाला, अंगार भेद फिर यहाँ रहे ॥१०९॥

उल्का, विद्युत् आदि अनेकों उसके भेद यहाँ बोधव्य।
सूक्ष्म अग्नि अविविध होने से एक भेद ही है ज्ञातव्य ॥११०॥

सर्व लोक में व्याप्त सूक्ष्म है लोक एक भाग स्थित बादर।
अब इनका मैं काल-विभाग चतुर्विध, यहाँ कहूँगा स्फुटतर ॥१११॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे कहे अनादि अनन्त सुजान!
स्थिति सापेक्षतया उन जीवों को तू सादि सान्त पहचान ॥११२॥

अग्निकाय की जघन्यतः आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति है उनकी तीन रात-दिन की, मतिमान! ॥११३॥

तेजस् जीवों की काय-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त मान।
सतत जन्म है वहीं अतः उत्कृष्ट असंख्य काल परिमाण ॥११४॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
अग्निकायिकों का फिर वहीं जन्म लेने का अन्तर जान! ॥११५॥

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श, संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यों भेद हजारों होते हैं समझो मतिमान! ॥११६॥

दो प्रकार के वायु जीव हैं, सूक्ष्म और बादर पहचान।
फिर इनके दो-दो विभेद हैं, अपर्याप्त पर्याप्त महान ॥११७॥

अब बादर पर्याप्त वायु के पाँच भेद होते मतिमान!
उत्कलिका, मंडलिका, घन, गुंजा फिर शुद्ध वायु पहचान ॥११८॥

संवर्तक, मारुत इत्यादि अनेक भेद फिर हैं आख्यात।
सूक्ष्म वायु अविविध होने से एक भेद ही है प्रख्यात ॥११९॥

सर्व लोक में व्याप्त सूक्ष्म, फिर लोक एक भाग स्थित बादर।
काल-विभाग चतुर्विध इनका, यहाँ कहूँगा अब सुन सादर ॥१२०॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे कहे अनादि अनन्त यहाँ।
स्थिति सापेक्षतया उनको फिर सादि सान्त हैं यहाँ कहा ॥१२१॥

वायुकाय की जघन्यतः आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति इनकी है तीन हजार वर्ष परिमाण ॥१२२॥

मारुत जीवों की काय-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त मान।
सतत जन्म है वहीं अतः उत्कृष्ट असंख्य काल परिमाण ॥१२३॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
वायुकायिकों का फिर वहीं जन्म लेने का अन्तर जान ॥१२४॥

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श, संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यों भेद हजारों होते हैं समझो मतिमान ! ॥१२५॥

अब उदार त्रस जीव यहाँ पर चार प्रकार प्रकीर्तित हैं।
द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय संज्ञा निर्णित है ॥१२६॥

द्वीन्द्रिय प्राणी दो प्रकार से यहाँ कथित हैं तू पहचान।
अपर्याप्त पर्याप्त तथा फिर उनके भेद सुनो मतिमान ! ॥१२७॥

कृमि, सौमंगल, अलस, मातृवाहक नामक प्राणी पहचान।
वासीमुख फिर सीप, शंख फिर शंखनकादिक हैं मतिमान! ॥१२८॥

फिर पल्लोय, अणुल्लक, कोड़ी नामों से वे हैं आख्यात।
जोंक और जालक, चन्दनिया, आदिक संज्ञा हैं प्रख्यात ॥१२९॥

इत्यादिक ये द्वीन्द्रिय प्राणी-गण, होते नाना विध हैं।
वे सर्वत्र नहीं होते हैं, लोक एक भाग-स्थित हैं ॥१३०॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे कहे अनादि अनन्त सुजान !
स्थिति सापेक्षतया फिर उन्हें कहा है सादि सान्त पहचान ॥१३१॥

द्वीन्द्रिय जीवों की जघन्य आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति उन जीवों की है बारह वर्ष-प्रमाण ॥१३२॥

द्वीन्द्रिय जीवों की काय-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त मान।
सतत जन्म है वहीं अतः संख्यात काल उत्कृष्ट विधान ॥१३३॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
द्वीन्द्रिय जीवों का फिर वहीं जन्म लेने का अन्तर जान ॥१३४॥

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श, संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यों भेद हजारों होते हैं समझो मतिमान ! ॥१३५॥

त्रीन्द्रिय प्राणी दो प्रकार के यहाँ कथित हैं तू पहचान।
अपर्याप्त पर्याप्त तथा फिर अब उनके सुन भेद सुजान ! ॥१३६॥

चोंटी, खटमल, मकड़ी, दीमक, कुंथु, तृणाहारक पहचान।
काष्ठाहारक, मालुक, पत्राहारक संज्ञा है मतिमान ! ॥१३७॥

कार्प्पासास्थिक, मिंजक, तिन्दुक और त्रपुष मिंजक ज्ञातव्य ।
शतावरी फिर कानखजूरी और इन्द्रकायिक हैं, भव्य ! ।।१३८।।

इन्द्रगोप आदिक त्रीन्द्रिय प्राणी होते नाना विध हैं।
वे सर्वत्र नहीं होते हैं. लोक एक भाग स्थित हैं ।।१३९।।

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे कहे अनादि अनन्त सुजान !
स्थिति सापेक्षतया फिर उन्हें कहा है सादि सान्त पहचान ।।१४०।।

त्रीन्द्रिय जीवों की जघन्य आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त मान ।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी उनचास दिवस की है मतिमान! ।।१४१।।

त्रीन्द्रिय जीवों की काय-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त मान ।
सतत जन्म है वहीं अतः संख्येय काल उत्कृष्ट विधान ! ।।१४२।।

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण ।
त्रीन्द्रिय जीवों का फिर वहीं जन्म लेने का अन्तर जान ।।१४३।।

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श, संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यों भेद हजारों होते हैं समझो मतिमान ! ।।१४४।।

अब चतुरिन्द्रिय प्राणी दो प्रकार से कथित यहाँ पहचान ।
अपर्याप्त पर्याप्त तथा फिर सुन उनके अब भेद प्रधान ।।१४५।।

है अन्धिका, पोतिका और मक्षिका, मच्छर और भ्रमर।
कीट, पतङ्ग व ढिंकण, कुंकुण आदिक नाम कहे मतिधर ! ।।१४६।।

कुक्कड़ व शृंगरिटी, नन्दावर्त और वृश्चिक ज्ञातव्य ।
डोल, भृङ्गरीटक व अक्षिवेधक, विरली संज्ञा बोधव्य ।।१४७।।

अक्षिल, मागध व अक्षिरोडक विचित्रपत्रक व चित्रपत्रक ।
ओहिंजलिया जलकारी नीचक फिर तन्तवकादिक नामक ।।१४८।।

इत्यादिक ये चतुरिन्द्रिय प्राणी होते नाना विध हैं।
वे सर्वत्र नहीं होते हैं, लोक एक भाग स्थित हैं ।।१४९।।

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे जीव अनादि अनन्त रहे।
स्थिति सापेक्षतया चतुरिन्द्रिय जीव सादि फिर सान्त कहे ।।१५०।।

चतुरिन्द्रिय की जघन्यतः आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी तुम पहचानो छह मास प्रमाण ।।१५१।।

चतुरिन्द्रिय की जघन्य काय-स्थिति है अन्तर्मुहूर्त मान।
सतत वहीं है जन्म अतः उत्कृष्ट काल संख्येय प्रमाण ॥१५२॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
चतुरिन्द्रिय जीवों का वहीं जन्म लेने का अन्तर जान ॥१५३॥

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श, संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यों भेद हजारों होते हैं, समझो मतिमान ! ॥१५४॥

अब पंचेन्द्रिय जीव यहाँ पर चार प्रकार प्रकीर्तित हैं।
नारक फिर तिर्यञ्च, मनुष्य, देव संज्ञा से अभिहित हैं ॥१५५॥

सात पृथ्वियों में होने वाले नारक हैं सात प्रकार।
रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा फिर भेद विचार ॥१५६॥

पंकाभा, धूमाभा और तमः फिर तमस्तमा पहचान।
ये नारक के जीव सप्त विध परिकीर्तित हैं यहाँ सुजान ! ॥१५७॥

यहाँ लोक के एक भाग में वे नारक रहते हैं, जान।
काल-विभाग चतुर्विध उनका, यहाँ कहूँगा अब, मतिमान ! ॥१५८॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे यहाँ अनादि अनन्त रहे।
स्थिति सापेक्षतया वे नारक सादि सान्त फिर स्पष्ट कहे ॥१५९॥

प्रथम नरक में आयु-स्थिति उत्कृष्ट एक सागर-उपमान।
जघन्यतः फिर दस हजार हायन की है समझो मतिमान ॥१६०॥

अब दूसरी नरक में आयु-स्थिति उत्कृष्ट तीन सागर।
जघन्यतः फिर उस शर्कराप्रभा की जान एक सागर ॥१६१॥

अब तीसरी नरक में आयु-स्थिति उत्कृष्ट सात सागर।
जघन्यतः फिर उस बालुकाप्रभा की जान तीन सागर ॥१६२॥

चौथी पृथ्वी में आयु-स्थिति दश सागर उत्कृष्ट विधान।
जघन्यतः है सात सागरोपम की आयु-स्थिति पहचान ॥१६३॥

अब पाँचवीं नरक-आयु-स्थिति जघन्यतः दश सागर मान।
धमाभा की उत्कृष्टायु-स्थिति सतरह सागर-उपमान ॥१६४॥

छठी नरक में जघन्यतः आयु-स्थिति है सतरह सागर।
तमःप्रभा की उत्कृष्टायु-स्थिति है द्वाविंशति सागर ॥१६५॥

अब सातवीं नरक आयु-स्थिति जघन्य द्वाविंशति सागर।
तमस्तमा की उत्कृष्टायु-स्थिति है तीन तीस सागर ॥१६६॥

नारक जीवों की जितनी है अपनी आयु-स्थिति-परिमाण।
जघन्यतया उत्कृष्टतया उतनी ही काय-स्थिति पहचान ॥१६७॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
नारक जीवों का फिर वहीं जन्म लेने का अन्तर जान ॥१६८॥

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श, संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यों भेद हजारों होते हैं समझो मतिमान! ॥१६९॥

अब तिर्यंग् पंचेन्द्रिय प्राणी दो प्रकार से वर्णित जान।
संमूर्छिम-तिर्यञ्च और गर्भज-तिर्यञ्च भेद पहचान ॥१७०॥

इन दोनों के तीन-तीन फिर कहे विभेद यहाँ पहचान।
जलचर, स्थलचर, खेचर हैं, अब इनके भेद सुनो मतिमान! ॥१७१॥

अब फिर जलचर पाँच प्रकार कहे हैं जो कि यहाँ ज्ञातव्य।
मत्स्य व कच्छप, ग्राह, मकर, फिर संसुमार संज्ञा बोधव्य ॥१७२॥

वे सर्वत्र न व्याप्त व लोक एक भाग स्थित हैं मतिमान!
काल-विभाग चतुर्विध उनका यहाँ कहूँगा अब पहचान ॥१७३॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे यहाँ अनादि अनन्त रहे।
स्थिति सापेक्षतया वे जलचर सादि सान्त फिर स्पष्ट कहे ॥१७४॥

जलचर की आयु-स्थिति जघन्यतः है अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु स्थिति है उनकी एक करोड़ पूर्व की जान ॥१७५॥

जलचर की काय-स्थिति जघन्यतः है अन्तर्मुहूर्त मान।
फिर उत्कृष्टतया काय-स्थिति पृथक्त्व कोटि पूर्व परिमाण ॥१७६॥

जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
जलचर जीवों का फिर वहीं जन्म लेने का अन्तर जान ॥१७७॥

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श, संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यों भेद हजारों होते हैं समझो मतिमान! ॥१७८॥

चतुष्पाद, परिसर्प भेद से दो प्रकार स्थलचर ज्ञातव्य।
चतुष्पाद, फिर चार प्रकार कहे हैं मुझसे सुन तू भव्य! ॥१७९॥

प्रथम एक-खुर फिर दो-खुर फिर गंडी-पद व सनख-पद जान।
हय आदिक, गो-महिषादिक, गज आदिक, सिंहादिक पहचान।।१८०।।

भुज-परिसर्प व उर-परिसर्प उभय ये परिसर्पों के भेद।
गोहादिक, सर्पादिक फिर इन दोनों के हैं विविध प्रभेद।।१८१।।

वे सर्वत्र न होते, लोक एक भाग स्थित हैं मतिमान।
काल-विभाग चतुर्विध उनका यहाँ कहूँगा अब पहचान।।१८२।।

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे यहाँ अनादि अनन्त रहे।
स्थिति सापेक्षतया वे स्थलचर जीव सादि फिर सान्त कहे।।१८३।।

स्थलचर की आयु-स्थिति जघन्यतः है अन्तर्मुहूर्त मान।
स्थिति उत्कृष्टतया उनकी पहचानो तीन पल्य परिमाण।।१८४।।

स्थलचर की काय-स्थिति जघन्यतः है अन्तर्मुहूर्त मान।
तीन पल्य फिर पृथक्त्व कोटि पूर्व ज्यादा उत्कृष्ट विधान।।१८५।।

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
स्थलचर जीवों का फिर वहीं जन्म लेने का अन्तर जान।।१८६।।

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श, संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यों भेद हजारों होते हैं समझो मतिमान!।।१८७।।

खेचर पक्षी चार प्रकार कहे हैं जो कि यहाँ बोधव्य।
चर्म, रोम पक्षी, समुद्र पक्षी व वितत पक्षी ज्ञातव्य।।१८८।।

वे सर्वत्र न व्याप्त व लोक एक देश स्थित हैं खेचर।
काल-विभाग चतुर्विध उनका यहाँ कहूँगा अब स्फुटतर।।१८९।।

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे यहाँ अनादि अनन्त कहे।
स्थिति सापेक्षतया वे खेचर सादि सान्त फिर स्पष्ट रहे।।१९०।।

खेचर की आयु-स्थिति जघन्यतः है अन्तर्मुहूर्त मान।
अधिकाधिक स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण।।१९१।।

जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट खेचर काय-स्थिति जान।
पृथक्त्व कोटि पूर्व ज्यादा हैं पल्य असंख्य भाग परिमाण।।१९२।।

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उ,कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
खेचर जीवों का फिर वहीं जन्म लेने का अन्तर जान।।१९३।।

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श, संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यों भेद हजारों होते हैं समझो मतिमान ! ॥१९४॥

मनुष्य के दो भेद कहे हैं, वे अब मुझसे सुन मतिमान !
संमूर्छिम फिर गर्भज मानव की संज्ञा से तू पहचान ॥१९५॥

गर्भज मानव के फिर तीन विभेद कहे हैं यहाँ सुजान !
अकर्मभूमिक और कर्मभूमिक फिर अन्तर्द्वीपक जान ॥१९६॥

पन्द्रह, तीस तथा फिर अट्ठाईस भेद क्रमशः जानो।
इन तीनों के इतने होते हैं विभेद तुम पहचानो ॥१९७॥

गर्भज के जितने ही संमूर्छिम के होते भेद सुजान !
सभी लोक के एक भाग में ही वे रहते हैं मतिमान ! ॥१९८॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे सभी अनादि अनन्त रहे।
स्थिति सापेक्षतया वे सारे सादि सान्त फिर यहाँ कहे ॥१९९॥

फिर उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः है अन्तर्मुहूर्त मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी पहचानो तीन पल्य उपमान ॥२००॥

जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट मनुज काय-स्थिति जान।
तीन पल्य फिर पृथक्त्व कोटि पूर्व ज्यादा समझो मतिमान ! ॥२०१॥

यह काय-स्थिति कही तथा फिर अब उनका अन्तर पहचान।
जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण ॥२०२॥

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श, संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यों भेद हजारों होते हैं समझो मतिमान ! ॥२०३॥

अब देवों के चार भेद होते हैं मुझ से सुन मतिमान !
भवनाधिप, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक भेद प्रधान ॥२०४॥

कहे भवनवासी दशधा, फिर व्यन्तर के हैं आठ प्रकार।
पाँच भेद ज्योतिष्क सुरों के, वैमानिक के उभय प्रकार ॥२०५॥

असुर नाग व सुपर्ण तथा विद्युत्कुमार फिर अग्निकुमार।
द्वीप, उदधि, दिग्, वायु व स्तनितकुमार-भवनपति देव विचार ॥२०६॥

पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर फिर हैं किंपुरुष, प्रधान।
और महोरग फिर गन्धर्व, अष्टधा यों व्यन्तर पहचान ॥२०७॥

चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र और फिर ग्रह, तारा यों पाँच प्रकार।
दिशा विचारी ये ज्योतिष्क देव होते हैं शिष्य ! विचार ॥२०८॥

वमानिक देवों के दो प्रकार होते हैं, जो ज्ञातव्य।
कल्पोपग फिर कल्पातीत नाम से तुम पहचानो भव्य ! ॥२०९॥

कल्पोपग बारह प्रकार हैं सुर सौधर्म और ईशानक।
सनत्कुमार और माहेन्द्र व ब्रह्मलोक सुर फिर सुर लान्तक ॥२१०॥

महाशुक्र फिर सहस्रार आनत, प्राणत सुर भेद विचार।
आरण, अच्युत, कल्पोपग देवों के ये पहचान प्रकार ॥२११॥

कल्पातीत देव फिर दो प्रकार से कथित यहाँ मतिमान।
ग्रैवेयक व अनुत्तर, ग्रैवेयक नवधा निम्नोक्त सुजान ! ॥२१२॥

अधः-अधस्तन, ततः अधः-मध्यम है भेद दूसरा जान।
अधः-उपरितन फिर है मध्य-अधस्तन चौथा भेद महान ॥२१३॥

और मध्य-मध्यम फिर मध्य-उपरितन छट्ठा भेद सुजान !
उपरि-अधस्तन ततः उपरि-मध्यम है भेद आठवाँ जान ॥२१४॥

उपरि-उपरितन नौवाँ है यों ग्रैवेयक सुर हैं आख्यात।
विजय वैजयन्ताख्य जयन्त व अपराजित संज्ञा विख्यात ॥२१५॥

हैं सर्वार्थ-सिद्धवासी, ये पाँच प्रकार अनुत्तर देव।
यों वैमानिक सुर अनेकधा होते हैं समझो स्वयमेव ॥२१६॥

वे सारे ही देव, लोक के एक भाग में स्थित पहचान।
काल-विभाग चतुर्विध उनका यहाँ कहूँगा सुन मतिमान ! ॥२१७॥

सतत प्रवाह अपेक्षा से वे देव अनादि अनन्त रहे।
स्थिति सापेक्षतया वे सारे सादि सान्त फिर यहाँ कहे ॥२१८॥

भवनवासियों की जघन्य आयु-स्थिति दश हजार हायन है।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी फिर साधिक एक सागरोपम है ॥२१९॥

व्यन्तर देवों की जघन्य स्थिति दश हजार हायन परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उन देवों की है एक पल्य-उपमान ॥२२०॥

जघन्य स्थिति ज्योतिष्क सुरों की पल्य आठवें भाग प्रमाण।
अधिकाधिक है एक पल्य से लाख वर्ष ज्यादा, पहचान ॥२२१॥

अब सौधर्म सुरों की जघन्य स्थिति है एक पल्य परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी दो सागर की है स्पष्ट विधान ॥२२२॥

सुर ईशानों की जघन्य स्थिति साधिक एक पल्य पहचान।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी है साधिक दो सागर परिमाण ॥२२३॥

सनत्कुमार सुरों की जघन्य स्थिति है दो सागर परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी है सात सागरोपम पहचान ॥२२४॥

अब माहेन्द्र सुरों की जघन्य स्थिति साधिक दो सागर मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी है साधिक सागर सात प्रमाण ॥२२५॥

ब्रह्मलोक देवों की जघन्यतः आयु-स्थिति सागर सात।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी दश सागर की होती अवदात ॥२२६॥

लान्तक देवों की जघन्यतः आयु-स्थिति दश सागर मान।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी चौदह सागर की है पहचान ॥२२७॥

महाशुक्र देवों की जघन्यतः चौदह सागर परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी सतरह सागर की है पहचान ॥२२८॥

सहस्रार देवों को जघन्यतः सतरह सागर परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी अष्टादश सागर की पहचान ॥२२९॥

आनत देवों की जघन्य स्थिति अष्टादश सागर परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी उन्नीस सागरोपम की जान ॥२३०॥

प्राणत देवों की जघन्य उन्नीस सागरोपम परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति है उनकी बीस सागरोपम पहचान ॥२३१॥

आरण देवों की जघन्य स्थिति बीस सागरोपम पहचान।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी इक्कीस सागरोपम मतिमान ! ॥२३२॥

अच्युत देवों की जघन्य आयु-स्थिति एक बीस सागर।
उत्कृष्टायु-स्थिति उनकी बाईस सागरोपम की वर ॥२३३॥

प्रथम ग्रैवेयक की जघन्यतः बाईस सागरोपम है।
उत्कृष्टायु-स्थिति उन देवों की तेईस सागरोपम है ॥२३४॥

अब द्वितीय की जघन्यतः तेईस सागरोपम परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उसकी चौबीस सागरोपम पहचान ॥२३५॥

अब तृतीय की जघन्यतः चौबीस सागरोपम परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उसकी पच्चीस सागरोपम पहचान ॥२३६॥

अब चौथे की जघन्यतः पच्चीस सागरोपम परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति उसकी छब्बीस सागरोपम पहचान ॥२३७॥

पंचम ग्रवेयक की जघन्यतः छब्बीस सागरोपम है।
उत्कृष्टायु-स्थिति उसकी फिर सत्ताईस सागरोपम है ॥२३८॥

छट्ठे ग्रैवेयक की जघन्यतः है सात बीस सागर।
उत्कृष्टायु-स्थिति है अट्ठाईस सागरोपम की वर ॥२३९॥

सप्तम ग्रैवेयक की जघन्यतः है आठ बीस सागर।
उत्कृष्टायु-स्थिति उसकी उनतीस सागरोपम सुन्दर ॥२४०॥

अष्टम की स्थिति जघन्यतः उनतीस सागरोपम परिमाण।
उत्कृष्टायु-स्थिति है उसकी तीस सागरोपम पहचान ॥२४१॥

नौवें ग्रैवेयक की जघन्यतः है तीस सागरोपम।
उत्कृष्टायु-स्थिति उसकी फिर है इकतीस सागरोपम ॥२४२॥

विजयादिक चारों की जघन्यतः है इकतीस सागर।
उत्कृष्टायु-स्थिति उन देवों की है तीन तीस सागर ॥२४३॥

अब अजघन्य व अनुत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम पहचान।
है सर्वार्थसिद्ध देवों की आयु-स्थिति का यह परिमाण ॥२४४॥

देवों की आयु-स्थिति जितनी है उतनी ही तू पहचान।
जघन्यतः या फिर उत्कृष्टतया काय-स्थिति है मतिमान! ॥२४५॥

जघन्य अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट अनन्त काल परिमाण।
देवों का फिर वहीं जन्म लेने का अन्तर है यह जान ॥२४६॥

वर्ण, गंध फिर रस, स्पर्श, संस्थान अपेक्षा से पहचान।
उनके फिर यों भेद हजारों होते हैं समझो मतिमान! ॥२४७॥

संसारी व सिद्ध जीवों का यहाँ विवेचन किया गया।
रूपी और अरूपी अजीवों का भी विवरण दिया गया ॥२४८॥

जीव-अजीव विवेचन सुन, यों उसमें श्रद्धा करे श्रमण।
सभी नयों से अनुमत, श्रमण-धर्म में मुनिवर करे रमण ॥२४९॥

ततः बहुत वर्षों तक संयम का पालन कर महामुनी।
फिर इस क्रमिक प्रयत्न प्रवर से निज आत्मा को कसे गुणी।।२५०।।

है उत्कृष्टतया बारह वर्षों की संलेखना सुजान !
मध्यमतः है एक वर्ष की जघन्यतः छह मास प्रमाण।।२५१।।

पहले चार वत्सरों में सब विकृति-विवर्जन श्रमण करे।
अपर चार वर्षों में फिर नानाविध तप-आचरण करे।।२५२।।

फिर दो वर्षों तक आचाम्ल सहित एकान्तर सतत करे।
फिर छह मासाऽवधि तक नहीं विशिष्ट तपस्या ग्रहण करे।।२५३।।

फिर छह मास विकृष्ट तपस्या करे यहाँ पर महामुनी।
इस पूरे संवत्सर में परिमित आचाम्ल करे सुगुणी।।२५४।।

अन्तिम हायन में फिर मुनिवर कोटि सहित आचाम्ल करे।
ततः पक्ष या एक मास तक भोजन का परिहार करे।।२५५।।

कांदर्पी व आभियोगी, मोहो व आसुरी है किल्बिषिकी।
ये सब दुर्गति हैं, विराधना करती मरण समय दर्शन की।।२५६।।

मिथ्यादर्शन रक्त और सनिदान तथा हिंसक होकर।
जो मरते हैं जीव यहाँ उनको फिर बोधि महा दुष्कर !।।२५७।।

सम्यग्दर्शन-रत, अनिदान शुक्ल लेश्या में प्रवर्तमान।
जो मरते जीव उन्हें फिर सम्यग्दर्शन सुलभ सुजान।।२५८।।

मिथ्यादर्शन-रत सनिदान कृष्ण लेश्या में प्रवर्तमान।
जो मरते हैं जीव उन्हें फिर बोधि महा दुर्लभ पहचान।।२५९।।

जिन वचनों में रक्त व उनमें करते रमण भाव पूर्वक नर।
असंक्लिष्ट, निर्मल, परीत-संसारी हो जाते साधक वर।।२६०।।

जो जिन वचनों को न जानते वे बेचारे फिर बहु बार।
करते यहाँ रहेंगे, बाल-मरण व अकाम-मरण हर बार।।२६१।।

समाधि-उत्पादक, बहु-आगम-विज्ञ, गुणग्राही होते हैं।
इन्हीं गुणों से आलोचना-श्रवण अधिकारी वे होते हैं।।२६२।।

कंदर्पक कौत्कुच्य व शील-स्वभाव-हास्य-विकथाओं से फिर।
पर को विस्मित करता वह कंदर्प भाव को आचरता नर।।२६३।।

सुख-रस और समृद्धि हेतु जो मंत्र, योग या भूति-कर्म का।
जो प्रयोग करता है वह सेवन करता अभियोग भाव का ॥२६४॥

ज्ञान, केवली, धर्माचार्य-संघ फिर मुनियों की जो करता।
निन्दा, वह मायावी फिर किल्बिषी भावना को आचरता ॥२६५॥

सतत क्रोध को जो कि बढ़ावा देता, निमित्त कहता है।
इन्हीं कारणों से आसुरी भावना में वह बहता है ॥२६६॥

शस्त्र-ग्रहण कर, विष-भक्षण कर, जल कर, जल में गिर कर मरता।
अधिक उपकरण जो रखता वह जन्म-मरण का पोषण करता ॥२६७॥

भव्य जीव-सम्मत छत्तीस उत्तराध्ययनों का यों स्फुटतर।
प्रादुष्करण किया परिनिर्वृत बुद्ध ज्ञात-वंशज ने सुन्दर ॥२६८॥

प्रशस्ति

[१]

प्रखर प्रकाश-पुंज से मिथ्याध्वान्त जिन्होंने ध्वस्त किया।
भूले-भटके पथिकों को अनुपम पथ एक प्रशस्त दिया ॥१॥
उन्हीं भिक्षु स्वामी के चरण-कमल में वन्दन शत-शत बार।
उनकी दया-दृष्टि से तेरापंथ आज अनुपम गुलजार ॥२॥
भारमल्ल ऋषिराय जीव मघ माणक डालिम कालूराम।
भैक्षवगण में एक-एक से बढ़कर गणपति हुए ललाम ॥३॥
वर्तमान में तुलसी-युग अणुव्रत-माध्यम से बोल रहा।
भौतिकता से दबे हुए अध्यात्म पृष्ठ को खोल रहा ॥४॥
धन्य भाग्य है मेरा तुलसी जैसे गुरुवर को पाकर।
जीवन सफल बनाऊँ गुरु-निर्दृष्ट पंथ को अपनाकर ॥५॥
तेरापंथ की द्विशताब्दी पर मंजुल मुदित "मुकुल" उपहार।
श्री दशवैकालिक पद्यानुवाद गुरुवर करिए स्वीकार ॥६॥
दो हजार सोलह आषाढ़ीसित सप्तमी हस्त रविवार।
हुई सुखद् आमेट शहर में, मासिक रचना यह तैयार ॥७॥

[२]

भिक्षु भारीमाल फिर ऋषिराय पटधर जीत थे।
प्रवर मघवा गणी माणक डाल कालु पुनीत थे ॥१॥
नवम गुरु आचार्य तुलसी जैन शासन-अग्रणी।
आज उज्ज्वल कीर्ति जिनकी विश्व में विस्तृत बनी ॥२॥
अणुव्रत के मिशन को ले भ्रमण भारत में किया।
स्वयं आ उपराष्ट्रपति ने ग्रंथ भेंट जिन्हें किया ॥३॥
तत्कृपया सन्नद्ध शिष्य मुकुल ने है किया।
हिन्दी पद्यबद्ध सूत्र उत्तराध्ययन को ॥४॥
दो हजार उन्नीस चैत्र की असित पंचमी दिन भृगु वार।
पूर्ण हुई कृति संतराज सह जींद शहर में धर्म प्रचार ॥५॥
सूक्ष्म दृष्टि से पुनः निरीक्षण, संशोधन है किया गया।
गहराई से मौलिकता पर ध्यान यथोचित दिया गया ॥६॥
दो हजार इकतीस साल का धन मुनि के सह वर्षावास।
अपर भाद्रपद असित द्वादशी पंचपदरा में पूर्ण प्रयास ॥७॥
निर्वाणोत्सव आ रहा, पचीससौवाँ सार।
श्रद्धाञ्जलि मुनि मुकुल की, वीर! करो स्वीकार ॥८॥

